जिंदगी में

अच्छे लोगों की तलाश न करो
खुद अच्छे बन जाओ।
हो सकता है,
आपसे मिलकर
किसी की तलाश पूरी हो जाये!

श्रावकाचार

संपादक : आचार्य वसुनन्दी मुनिराज

4 श्रावकाचार

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

कार्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावकाचार

चारित्रसार-गत श्रावकाचार

वसुनन्दि श्रावकाचार

संपादक : आचार्य वसुनन्दी मुनिराज

चार
श्रावकाचार

मंगल आशीर्वाद

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसन्त

श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानन्दजी मुनिराज

सम्पादक

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनन्दीजी मुनिराज

कृति - चार श्रावकाचार
पावन आशीष - प.पू. सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य 108 विद्यानन्दजी महाराज
सम्पादक - आचार्य श्री वसुनन्दीजी मुनिराज
संस्करण - प्रथम (1000 प्रतियाँ)
मूल्य - 100/- रुपये
प्राप्ति स्थान -
अतिशय क्षेत्र श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली
ग्राम-बोलखेड़ा, तहसील-कामा,
जिला-भरतपुर (राजस्थान)

श्री जिनशासन तीर्थक्षेत्र
जैन नगर, अजमेर (राजस्थान)

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति
टूण्डला, जिला-फिरोजाबाद (उ.प्र.)

डीसी मीडिया, रविन्द्र भवन
टूण्डला, जिला-फिरोजाबाद (उ.प्र.)

पुण्यार्जक
1. श्रीमान आलोक जैन कोकी
सरधना, मेरठ (उ.प्र.)
2. श्रीमान ज्ञानचन्द जैन (बिल्टीवाला)
जयपुर (राज.)

टाइप सेटिंग - प्रीति कम्प्यूटर्स, जयपुर
मुद्रक - प्री एलविल सन (राजू भैया)
बी. 180, ए. 2 मंगल मार्ग, बापू नगर, जयपुर-15 + 91 9509232733

पुरोवाक्

- एलाचार्य वसुनन्दी मुनि

श्रावक शब्द तीन अक्षरों से मिलकर बना है, जिसमें श्र वर्ण का अर्थ माना जाता है - श्रद्धावान् (सच्चे देव-शास्त्र-गुरु एवं जिनधर्म के प्रति नित्य ही श्रद्धा युक्त भावना वाला हो।) व वर्ण का अर्थ ग्रहण किया जाता है - विवेकवान् (जिसके अंदर स्व-पर का भेदविज्ञान हो अर्थात् जिसके पास भले-बुरे या हित-अहित की पहचान हो अथवा आत्मा-अनात्मा का भेदरूप ज्ञान हो।) एवं क वर्ण का अर्थ क्रिया ग्रहण किया जाता है - क्रियावान् (जो सप्त व्यसन का त्यागी, श्रावकोचित अष्ट मूलगुणों से युक्त, श्रावक के पंचाणुव्रत आदि द्वादश व्रत युक्त हो एवं नित्य षट् आवश्यक कर्तव्य तथा यथाशक्य ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने वाला हो।) सद्गृहस्थ ही श्रावक कहलाने के योग्य होता है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी ने श्रावक कौन हो सकता है और श्रावक कौन नहीं है - इस सम्बन्ध में रयणसार में लिखा है -

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।।10।।

अर्थात् दान और पूजा श्रावक का मुख्य धर्म है, उसके बिना वह गृहस्थ श्रावक नहीं कहलाता।

श्रावक की परिभाषा अन्यत्र भी कही है -

देवशास्त्रगुरूणां च भक्तिर्दानं दयार्चनम्।
मदाष्टव्यसनैर्हीनः श्रावकः कथितो जनैः।।

अर्थ - जिसके देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति दान, दया और पंच परमेष्ठी पूजन है। जो अष्ट मद एवं सप्त व्यसनों से रहित है। जिनेन्द्र देव ने उसे ही श्रावक कहा है।

सप्तव्यसननिर्मुक्ताः जिनपूजा-समुद्यताः।
सम्यग्दर्शनसंयुक्तास्ते धन्याः श्रावका मताः।।

अर्थ - जो सप्त व्यसनों से रहित एवं जिनपूजा में तत्पर हैं, सम्यग्दर्शन से संयुक्त हैं, वे पुण्य-पुरुष (धन्य भाग्यवान्) श्रावक कहे गये हैं।

देव-पूजादि षट्कर्मनिरतः कुलसत्तमः।
अघ-षट्कर्म निर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत्।।

अर्थ - जो देव-पूजादि षट् कर्मों में तत्पर रहता है, उच्च कुलीन है, पापपूर्ण असि, मसि आदि षट् कर्मों से रहित है; वह उत्तम श्रावक होता है।

भव्येन प्राप्तरुत्थाय जिनबिम्बस्य दर्शनम्।
विद्याय स्वशरीरस्य क्रियते शुद्धिरुत्तपः।।
अनस्तमित शुद्धाम्बु पंचाक्षरजिनेक्षणम्।
दया जीवस्य यस्यास्ति सोऽपि श्रावक उच्यते।।

अर्थ - जो भव्य प्रातःकाल उठकर जिनेन्द्र बिम्ब का दर्शन कर अपने शरीर की अच्छी तरह शुद्धि करता है, दिन में ही भोजन करता है, शुद्ध छना हुआ जल लेता है, पंच परमेष्ठियों का जाप करता है, देवदर्शन करता है तथा जीव दया का पालन करता है; वह भी श्रावक कहलाता है।

हस्तौ दानविधौ मनोजिनमते, वाचः सदा सूनृते।
प्राणाः सर्वजनोपकारकरणे वित्तानि चैत्योत्सवे।।
ये नैवं विनियोजितानि शतशो विश्वत्रयी मण्डनं।
धन्यः कोऽपि त्रिविष्टयैक तिलकं काले कलौ श्रावकः।।

अर्थ - जिसने दोनों हाथ दान की विधि में, मन जैन मत में, वचन सत्य और प्रिय भाषण, प्राण सर्व जनों (प्रत्येक प्राणी) का उपकार करने में, धन जिनबिम्ब एवं जिनालय के निर्माण में एवं प्रतिष्ठा करने में सदा सैकड़ों बार लगाया - ऐसा तीन लोक का अद्वितीय तिलक (भाग्यशाली) कोई-कोई श्रावक इस कलिकाल (दुखमा नामक पंचम काल) में ऐसा श्रावक देवों के द्वारा भी वंदनीय होता है। (ऐसा श्रावक ही कल्याण मार्ग में संलग्न मानना चाहिए।)

इस लघु काय 'चार श्रावकाचार' नामक ग्रन्थ में जैसा कि नाम से ो

स्पष्ट है, चार श्रावकाचारों को सम्मिलित किया गया है। इसमें आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आचार्य चामुण्डराय कृत चारित्रसार गत श्रावकाचार, आचार्य श्री कार्तिकेय स्वामी विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा गत श्रावकाचार तथा आचार्य भगवन् श्री वसुनन्दी स्वामी द्वारा प्रणीत वसुनन्दी श्रावकाचार है।

आत्महितार्थी भव्य प्राणियों को हंसवत् गुणग्राही दृष्टि बनाकर नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। ग्रन्थ के सम्पादन में सहयोगी सभी त्यागी-व्रतियों एवं श्रावकों को सुसमाधिरस्तु एवं धर्मवृद्धि शुभाशीष।

इस कृति के सम्पादन में जो कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर ही पढ़ें। सही अर्थ को ग्रहण करें। यह कृति सबके लिए मंगलकारी हो, प्राणीमात्र को सुखद बने - यही मंगल भावना है।

सर्वेषां मंगलं भवतु.....

श्री शुभ मिति वीर निर्वाण संवत् 2541
जैन नगर, अजमेर (राज.)

ॐ ह्रीं नमः
कश्चिदल्पज्ञः श्रमणः
जिनचरणाम्बुजचंचरीकः
28 नवम्बर, 2014

अनुक्रमणिका

क्र.	ग्रन्थ	पृष्ठ
1.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र स्वामी विरचित	1-42
2.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा-गत श्रावकधर्म वर्णन आचार्य कार्तिकेय स्वामी विरचित	43-62
3.	चारित्रसार-गत श्रावकाचार आचार्य चामुण्डराय विरचित	63-115
4.	वसुनन्दी श्रावकाचार आचार्य वसुनन्दी विरचित	116-244

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥१॥

अर्थ – जिन्होंने अपनी आत्मा से राग-द्वेषादिरूप पापमल को सर्वथा धो डाला है और जिनकी केवलज्ञानरूपी विद्या अलोकाकाश-सहित त्रिलोकों को जानने के लिए दर्पण के समान है, ऐसे श्री वर्धमान स्वामी के लिए नमस्कार हो॥१॥

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥

अर्थ – मैं (समन्तभद्र) कर्मों के नाश करने वाले उस यथार्थ धर्म का उपदेश करता हूँ, जो कि जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में धारण करता है॥२॥

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥३॥

अर्थ – धर्म के ईश्वर तीर्थंकरादि देवों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है। इनके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के कारण हैं॥३॥

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥४॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन का स्वरूप – सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढ़ता से रहित, आठ स्मय (मद) से रहित और आठ अंग से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है॥४॥

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥

अर्थ – सत्यार्थ आप्त (देव) का लक्षण – जिसने राग-द्वेषादि दोषों का विनाश कर दिया है, जो सर्व चराचर जगत् का जानने वाला सर्वज्ञ है और वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादक आगम का स्वामी अर्थात् मोक्षमार्ग का प्रणेता है, वही पुरुष नियम से सच्चा आप्त होने के योग्य है। अन्यथा आप्तपना हो नहीं सकता। अर्थात् जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी नहीं है, ऐसा पुरुष कभी सच्चा देव नहीं हो सकता ॥५॥

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तक–भयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

अर्थ – निर्दोष वीतरागी आप्त का लक्षण – जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द से सूचित चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, प्रस्वेद और खेद – ये दोष नहीं हैं; वह पुरुष वीतरागी आप्त कहा जाता है ॥६॥

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥

अर्थ – ऐसे ही आप्त को परमेष्ठी, परंज्योति, वीतराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्त से रहित, अनादि-अनन्त और सार्व (सबका हितैषी) शास्ता या मोक्षमार्ग प्रणेता कहते हैं ॥७॥

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥

अर्थ – वह शास्ता बिना किसी अपने प्रयोजन के केवल निःस्वार्थ भाव से राग के बिना सन्त जनों को हित का उपदेश देता है। बजाने वाले शिल्पी के हाथ के स्पर्श से ध्वनि करता हुआ मृदंग किसी से क्या अपेक्षा रखता है? ॥८॥

भावार्थ – जैसे बजता हुआ मृदंग शिल्पी से या अन्य किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता है। इसी प्रकार वीतराग पुरुष भी भव्यों को उपदेश देते हुए किसी से कुछ अपेक्षा नहीं रखते हैं। जैसे मृदंग का

स्वभाव बजने का है, वह बजाने वाले के हाथ का निमित्त पाते ही बजने लगता है, इसी प्रकार शास्ता का स्वभाव उपदेश देने का है, भव्य जीवों का निमित्त पाते ही उसके द्वारा दिव्य उपदेश प्रकट होने लगता है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट – विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९॥

अर्थ – सत्यार्थ आगम (शास्त्र) का लक्षण – जो आप्त के द्वारा उपदिष्ट हो, वादी-प्रतिवादी के द्वारा जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सके, प्रत्यक्ष और अनुमानादिक प्रमाणों से जिसमें कोई विरोध नहीं आता हो, जो प्रयोजन भूत तत्त्वों का उपदेश करता हो, सर्व प्राणियों का हितकारक हो और कुमार्ग का विनाशक हो, उसे सत्यार्थ शास्त्र या आगम कहते हैं॥९॥

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥१०॥

अर्थ – सत्यार्थ गुरु का लक्षण – जो पंचेन्द्रियों की आशा के वश से रहित हो, खेती-पशुपालन आदि आरम्भ से रहित हो, धन-धान्यादि परिग्रह से रहित हो, ज्ञानाभ्यास, ध्यान-समाधि और तपश्चरण में निरत हो, ऐसा तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु प्रशंसनीय होता है॥१०॥

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥११॥

अर्थ – अब सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम निःशंकित अंग का लक्षण कहते हैं – तत्त्व अर्थात् वस्तु का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, इससे भिन्न नहीं और न अन्य प्रकार से संभव है, इस प्रकार लोह-निर्मित खड्ग आदि पर चढ़े हुए पानी के सदृश सन्मार्ग में संशय-रहित अकम्प अविचल रुचि या श्रद्धा को निःशंकित अंग कहते हैं॥११॥

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

अर्थ – दूसरे निःकांक्षित अंग का लक्षण – संसार का सुख कर्म के अधीन है, अन्त-सहित है, जिसका उदय दुःखों से अन्तरित है, अर्थात् सुख-काल के मध्य में भी दुःखों का उदय आता रहता है और पाप का बीज है, ऐसे इन्द्रियज सुख में आस्था और श्रद्धा नहीं रखना अर्थात् संसार के सुख की आकांक्षा नहीं करना, यह निःकांक्षित अंग माना गया है ॥१२॥

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥

अर्थ – तीसरे निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण – स्वभाव से अपवित्र किन्तु रत्नत्रय के धारण करने से पवित्र ऐसे धार्मिक पुरुषों के मलिन शरीर को देखकर भी उसमें ग्लानि नहीं करना और उनके गुणों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग माना गया है ॥१३॥

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥

अर्थ – चौथे अमूढ़दृष्टि अंग का लक्षण – दुःखों के कारणभूत कुमार्ग में और कुमार्ग पर स्थित पुरुष में मन से सम्मति नहीं देना, काय से सराहना नहीं करना और वचन से प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि अंग कहा जाता है ॥१४॥

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

अर्थ – पाँचवें उपगूहन अंग का लक्षण – स्वयं शुद्ध निर्दोष सन्मार्ग की बाल (अज्ञानी) और अशक्तजनों के आश्रय से होने वाली निन्दा को जो दूर करते हैं, उसे ज्ञानीजन उपगूहन अंग कहते हैं ॥१५॥

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते॥१६॥

अर्थ – छठे स्थितिकरण अंग का लक्षण – सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यक्चारित्र से चलायमान होने वाले लोगों का धर्मवत्सल जनों के द्वारा पुनः अवस्थापन करने को प्राज्ञ पुरुष स्थितिकरण अंग कहते हैं॥१६॥

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥१७॥

अर्थ – सातवें वात्सल्य अंग का लक्षण – अपने साधर्मी समाज के प्रति सद्भावसहित, छल-कपटरहित यथोचित स्नेहमयी प्रवृत्ति को वात्सल्य अंग कहते हैं॥१७॥

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना॥१८॥

अर्थ – आठवें प्रभावना अंग का लक्षण – अज्ञानरूप अन्धकार के प्रसार को यथासंभव उपायों के द्वारा दूर करके जिन शासन के माहात्म्य को जगत् में प्रकाशित करना प्रभावना अंग है॥१८॥

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमती स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता॥१९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यातां गतौ॥२०॥

अर्थ – उपर्युक्त आठ अंगों में से प्रथम अंग में अंजन चोर, दूसरे अंग में अनन्तमती, तीसरे अंग में उद्दायन राजा, चौथे अंग में रेवती रानी, पाँचवें अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठे अंग में वारिषेण राजकुमार, सातवें अंग में विष्णुकुमार मुनि और आठवें अंग में वज्रकुमार मुनि इस युग में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं॥१९-२०॥

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥२१॥

अर्थ – उक्त आठ अंगों में से किसी भी अंग से हीन सम्यग्दर्शन संसार की परम्परा को छेदने के लिए समर्थ नहीं है। जैसे कि एक अक्षर से भी न्यून मंत्र विष की वेदना को नष्ट करने के लिए समर्थ नहीं होता। अत: आठों अंगों के साथ ही सम्यग्दर्शन का धारण आवश्यक है॥२१॥

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताऽश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥२२॥

अर्थ – अब, तीन मूढ़ताओं में से पहले लोकमूढ़ता कहते हैं। धर्म बुद्धि से गंगादि नदियों और समुद्र में स्नान करना, बालु और पत्थरों का ऊँचा ढेर लगाना, पर्वत से गिरना, अग्नि में प्रवेश करना, तथा च शब्द से सूचित इसी प्रकार के अन्य कार्य-सूर्य को अर्घ चढ़ाना, संक्रान्ति के समय तिलदान करना आदि को लोकमूढ़ता कहा जाता है॥२२॥

वरोपलिप्सयाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥२३॥

अर्थ – दूसरी देवमूढ़ता का लक्षण – आशा-तृष्णा के वशीभूत होकर वर पाने की इच्छा से राग-द्वेष मलिन देवताओं की जो उपासना की जाती है, वह देवमूढ़ता कही जाती है॥२३॥

सग्रन्थाऽऽरम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥२४॥

अर्थ – तीसरा पाखण्डिमूढ़ता का लक्षण – परिग्रह, आरम्भ और हिंसा से युक्त, संसार के गोरखधन्धे रूप भँवरों के मध्य पड़े हुए पाखण्डी लोगों का आदर-सत्कार करना पाषण्डि मूढ़ता जानना चाहिए॥२४॥

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥

अर्थ – मदों का वर्णन – ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर – इन आठ बातों का आश्रय लेकर अभिमान करने को गर्व-रहित आचार्य स्मय या मद कहते हैं ॥२५॥

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

अर्थ – अभिमानयुक्त चित्तवाला जो पुरुष मद से अन्य धर्मात्मा जनों का तिरस्कार करता है, वह अपने ही धर्म का अपमान करता है; क्योंकि धार्मिक जनों के बिना धर्म निराश्रित नहीं रह सकता है ॥२६॥

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि विचारता है कि यदि पाप के आस्रव का निरोध है, तो फिर मुझे अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है। और यदि पाप का आस्रव हो रहा है, तो भी मुझे अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है ॥२७॥

भावार्थ – पाप का निरोध होने पर ऋद्धिबल और सम्पदा स्वयं प्राप्त होती है, अतः उसका अहंकार करना व्यर्थ है। और जब पाप का आस्रव हो रहा है, तब प्राप्त वैभवादि का अहंकार करने पर भी उनका विनाश होगा और दुर्गतियों में गमन करना पड़ेगा, अतः उस दशा में भी अन्य सम्पदाओं का गर्व करना व्यर्थ है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढ़ाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

अर्थ – गणधर देव सम्यग्दर्शन से संयुक्त चाण्डाल-पुत्र को भी भस्म (राख) से आच्छादित और अन्तरंग में तेज से युक्त अंगार के समान देव या आराध्य कहते हैं ॥२८॥

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम्॥२९॥

अर्थ – धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के उदय से देव भी कुत्ता बन जाता है। इसलिए जीवों के धर्म से अन्य और कौन-सी सम्पत्ति श्रेष्ठ हो सकती है? नहीं हो सकती है, अतः धर्म का ही आचरण करना चाहिए और अहंकार नहीं करना चाहिए॥२९॥

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवाऽऽगमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीवों को भय, आशा, स्नेह और लोभ से कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की वन्दना और विनय नहीं करना चाहिए॥३०॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते॥३१॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन की ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा प्रधानता से उपासना की जाती है। क्योंकि सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में कर्णधार (खेवटिया) कहा जाता है॥३१॥

विद्या-वृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥३२॥

अर्थ – जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति असंभव है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती है॥३२॥

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥३३॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन का अवरोध करने वाले मोह से अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म से रहित गृहस्थ मोक्षमार्ग पर अवस्थित है, किन्तु दर्शनमोहवाला मुनि मोक्षमार्ग पर स्थित नहीं है। अतएव मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है ॥३३॥

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम्॥३४॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन के समान तीन काल और तीन लोक में प्राणियों की कल्याण-कारक अन्य कोई वस्तु नहीं है और मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याण-कारक नहीं है ॥३४॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अर्थ – अव्रती भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होते हैं। तथा खोटे कुल को, विकल अंग को, अल्प आयु को और दरिद्रता को भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥३५॥

ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव यदि मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, तो ओज (उत्साह), तेज (प्रताप), विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि (उन्नति), विजय और वैभव से संयुक्त, महान कुलों में उत्पन्न होने वाले, महान् पुरुषार्थी, मानव-तिलक या मनुष्य-शिरोमणि होते हैं ॥३६॥

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन से विशिष्ट जिनेन्द्र भक्त पुरुष यदि स्वर्ग में

उत्पन्न होते हैं तो अणिमा-महिमादि आठ ऋद्धिरूप गुणों की प्राप्ति से सदा प्रमुदित और उत्कृष्ट शोभा से संयुक्त होकर देवों और अप्सराओं की सभा में चिरकाल तक आनन्द का उपभोग करते हैं ॥३७॥

नवनिधि-सप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अर्थ – निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव नौ निधि और चौदह रत्नों के स्वामी और सर्वभूमि के अधिपति होकर सुदर्शन चक्र को चलाने में समर्थ होते हैं और नमस्कार करते हुए क्षत्रिय राजाओं के मुकुटों की मालाओं से उनके चरण व्याप्त रहते हैं ॥३८॥

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन्होंने तत्त्वार्थ का भलीभाँति से निश्चय किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अमरपति (ऊर्ध्व लोक के स्वामी इन्द्र), असुरपति (अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र), नरकगति (मनुष्यलोक के स्वामी चक्रवर्ती) और यमधरपतियों (संयम-धारक साधुओं के स्वामी गणधर देवों) से जिनके चरण-कमल पूजे जाते हैं, जो लोक को शरण देने के योग्य हैं ऐसे धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर होते हैं ॥३९॥

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन की शरण लेनेवाले जीव अजर (जरा-रहित), अरुज (रोग-रहित), अक्षय (अविनाशी), अव्याबाध (बाधारहित), शोक-भय और शंका से रहित, चरम सीमा को प्राप्त सुख और ज्ञान के वैभव वाले ऐसे निर्मल शिव (परम निःश्रेयसरूप मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥४०॥

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

अर्थ – इस प्रकार जिनेन्द्रदेव की भक्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि भव्य जीव अपरिमित प्रमाणवाली देवेन्द्र-समूह की महिमा को पाकर, मुकुटबद्ध राजाओं के शिरों से अर्चनीय राजेन्द्रचक्र, चक्रवर्ती के पद को पाकर और सर्व लोक को अपना उपासक बनाने वाले धर्मेन्द्रचक्र रूप तीर्थंकर पद को पाकर अन्त में शिवपद को प्राप्त होता है ॥४१॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्दर्शनवर्णनं नाम प्रथममध्ययनम् ॥१॥

इस प्रकार स्वामीसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नाम के उपासकाध्ययन में सम्यग्दर्शन का वर्णन करनेवाला प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ।

–: ०००० :–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

अर्थ – जो न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित, सन्देह से रहित और विपरीतता से रहित वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानता है, उसे आगम के ज्ञाता पुरुष 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं ॥४२॥

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि-समाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनम् ॥४३॥

अर्थ – प्रथमानुयोग का स्वरूप – यद्यपि सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच भेद हैं, तथापि ग्रन्थकार

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए उपयोगी समझकर श्रुतज्ञान के चार अनुयोगों का वर्णन करते हुए सबसे पहले प्रथमानुयोग का स्वरूप कहते हैं –पुण्य रूप अर्थ का व्याख्यान करने वाले चरित को, पुराण को तथा बोधि-समाधि के निधानभूत कथा-वर्णन को सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग जानता है ॥४३ ॥

भावार्थ – एक पुरुष के कथानक को चरित्र कहते हैं। अनेक पुरुषों के कथानकों के वर्णन करने को पुराण कहते हैं। आज तक नहीं प्राप्त हुए ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति को बोधि कहते हैं और प्राप्त हुए रत्नत्रय की भलीभाँति से रक्षा करते हुए उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने को समाधि कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी समाधि कहलाते हैं।

इस प्रकार पुण्य-वर्धक चरित और पुराणों को तथा धर्म-वर्धक बोधि-समाधि के वर्णन करने वाले शास्त्रों को प्रथमानुयोग कहते हैं। धर्म से अनभिज्ञ पुरुष को सर्वप्रथम उपयोगी होने से इसे प्रथमानुयोग कहा जाता है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४ ॥

अर्थ – करणानुयोग का स्वरूप – जो लोक और अलोक के विभाग को, काल के परिवर्तन को और चारों गतियों के वर्णन को दर्पण के समान जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान करणानुयोग कहता है ॥४४ ॥

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धि-रक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५ ॥

अर्थ – चरणानुयोग का स्वरूप – गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणभूत शास्त्र को सम्यग्ज्ञान चरणानुयोग कहता है ॥४५ ॥

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्याऽऽलोकमातनुते ॥४६ ॥

अर्थ – द्रव्यानुयोग का स्वरूप - जीव-अजीव तत्त्व को, पुण्य-पाप को और बन्ध-मोक्ष को प्रकाशित करनेवाला द्रव्यानुयोग रूप दीपक है, जो कि श्रुतज्ञान के प्रकाश को विस्तृत करता है ॥४६॥

भावार्थ – लोक युगपरिवर्तन आदि के वर्णन करने को करणानुयोग, मुनि-श्रावक के चारित्र वर्णन करने को चरणानुयोग और षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व एवं नव पदार्थों के वर्णन करने को द्रव्यानुयोग कहते हैं।

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकोऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्ज्ञानवर्णनं नाम द्वितीयमध्ययनम् ॥२॥

इस प्रकार स्वामीसमन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डक नाम के उपासकाध्ययन में सम्यग्ज्ञान का वर्णन करने वाला दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

-: ००० :-

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

अर्थ – अब आचार्य सम्यक्चारित्र का वर्णन करते हैं – दर्शनमोहरूप अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन के लाभ से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग और द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को स्वीकार करता है ॥४७॥

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥

अर्थ – क्योंकि राग और द्वेष की निवृत्ति से हिंसा आदि पापों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। धन की अपेक्षा से रहित ऐसा कौन पुरुष है, जो राजाओं की सेवा करता हो?

भावार्थ – धन की इच्छा या राग के बिना कोई किसी की सेवा नहीं करता है, उसी प्रकार राग-द्वेष के बिना कोई भी पुरुष हिंसा आदि पापों को भी नहीं करता है ॥४८॥

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥४९॥

अर्थ – सम्यक्चारित्र का स्वरूप - पापों के आने के द्वार-स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन और परिग्रह से विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी पुरुष का चारित्र है अर्थात् पाँच पापों के परित्याग को सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥४९॥

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम्॥५०॥

अर्थ – वह चारित्र दो प्रकार का है – सकलचारित्र और विकलचारित्र। सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित मुनियों के सकलचारित्र होता है और परिग्रह-सहित गृहस्थों के विकलचारित्र होता है ॥५०॥

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्च त्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम्॥५१॥

अर्थ – श्री आचार्य विकलचारित्र का वर्णन करते हैं – गृहस्थों का विकलचारित्र, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप है। ये तीनों यथाक्रम से पाँच, तीन और चार भेदवाले कहे गये हैं ॥५१॥

प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्च्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥५२॥

अर्थ – अणुव्रत का स्वरूप - स्थूल प्राणघात से, स्थूल असत्य-भाषण से, स्थूल चोरी से, स्थूल काम-सेवन से और स्थूल ममता-भावरूप मूर्च्छा से, इन पाँच स्थूल पापों से विरक्त होना अर्थात् स्थूल पापों का त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ॥५२॥

सङ्कल्पात् कृत-कारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥

अर्थ – अहिंसाणुव्रत का स्वरूप – मन, वचन, काय – इन तीनों योगों के संकल्प से; कृत, कारित और अनुमोदना से जो त्रस जीवों को नहीं मारता है, उसे धर्म में निपुण ज्ञानियों ने स्थूल हिंसा से विरमणरूप अहिंसाणुव्रत कहा है ॥५३॥

छेदन-बन्धन-पीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्-व्युपरतेः पञ्च ॥५४॥

अर्थ – इस अहिंसाणुव्रत के पाँच अतीचार (दोष) हैं – पशु-पक्षी आदि जीवों के अंगों का छेद करना, रस्सी आदि से बाँधना, डंडे आदि से पीड़ा देना, शक्ति से अधिक भार लादना और उनके आहार (खान-पान) का रोक देना। ऐसे कार्य करने से अहिंसाणुव्रत में दोष लगता है ॥५४॥

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥

अर्थ – सत्याणुव्रत का स्वरूप – जो लोक-विरुद्ध, राज्य-विरुद्ध एवं धर्म-विघातक ऐसा स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा दूसरे की विपत्ति के लिए कारणभूत सत्य को भी न स्वयं कहता है और न दूसरों से कहलवाता है, उसे सन्तजन स्थूल मृषावाद से विरमण अर्थात् सत्याणुव्रत कहते हैं ॥५५॥

परिवाद-रहोऽभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥५६॥

अर्थ – इस सत्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं – दूसरे की निन्दा करना, दूसरे की एकान्त या गुप्त बात को प्रकट करना, चुगली खाना, नकली दस्तावेज आदि लिखना और दूसरे की धरोहर के अपहरण करने

वाले वचन बोलना ॥५६ ॥

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥५७ ॥

अर्थ – अचौर्याणुव्रत का स्वरूप – दूसरे की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई वस्तु को और बिना दिये हुए धन को जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरे को देता है, उसे स्थूल चोरी से विरक्त होने रूप अचौर्याणुव्रत कहते हैं ॥५७ ॥

चौरप्रयोग-चौरार्थादान-विलोप-सदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥५८ ॥

अर्थ – इस अणुव्रत के भी पाँच अतीचार हैं – किसी को चोरी के लिए भेजना, चोरी की वस्तु को लेना, राज्य-नियमों का उल्लंघन करना, बहुमूल्य वस्तु में समान रूपवाली अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना और देने के लिए कम और लेने के लिए अधिक नाप-तौल करना ॥५८ ॥

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥५९ ॥

अर्थ – ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप – जो पाप के भय से पराई स्त्रियों के पास न तो स्वयं जाता है और न दूसरों को भेजता है, वह परदार निवृत्ति अथवा स्वदारसन्तोष नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥५९ ॥

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६० ॥

अर्थ – ब्रह्मचर्यव्रत के भी पाँच अतीचार हैं – दूसरों का विवाह कराना, काम-सेवन के अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम-सेवन करना, अश्लील वचन या कामोत्तेजक वचन कहना, काम-सेवन की अधिक तृष्णा रखना और व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ गमन करना ॥६० ॥

धन-धान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥६१॥

अर्थ – परिग्रह परिमाणाणुव्रत का स्वरूप – धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में निःस्पृह रहना, परिमित परिग्रह व्रत है, इसी का दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है ॥६१॥

अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥६२॥

अर्थ – इस व्रत के भी पाँच अतीचार हैं – आवश्यकता से अधिक वाहनों (रथ, घोड़े आदि सवारी के साधनों) को रखना, अधिक वस्तुओं का संग्रह करना, दूसरों के लाभादिक को देखकर आश्चर्य करना, अधिक लोभ करना और घोड़े आदि को उनकी शक्ति से अधिक जोतना, लादना, उन पर अधिक बोझा ढोना ॥६२॥

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥६३॥

अर्थ – उपर्युक्त अतीचारों से रहित होकर धारण की गई पाँच अणुव्रतरूप निधियाँ देवलोक को फलती हैं, जहाँ पर कि अवधिज्ञान, अणिमादि आठ ऋद्धियाँ और दिव्य शरीर प्राप्त होता है ॥६३॥

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥

अर्थ – अणुव्रत के धारण करने वालों में अहिंसाणुव्रत में मातंग चाण्डाल, सत्याणुव्रत में धनदेव सेठ, अचौर्याणुव्रत में वारिषेण राजकुमार, ब्रह्मचर्याणुव्रत में नीलीबाई और परिग्रह परिमाणाणुव्रत में जयकुमार उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए हैं ॥६४॥

धनश्री-सत्यघोषौ च तापसाऽऽरक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥६५॥

अर्थ – हिंसा पाप में धनश्री सेठानी, झूठ पाप में सत्यघोष पुरोहित, चोरी में तापस, कुशील में आरक्षक (कोटपाल) और परिग्रह पाप में श्मश्रुनवनीत प्रसिद्ध हुए हैं ॥६५॥

मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

अर्थ – मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों के धारण करने को उत्तम मुनियों के गृहस्थों के आठ मूलगुण कहे हैं ॥६६॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने अणुव्रतवर्णनं नाम तृतीयमध्ययनम् ॥३॥

इस प्रकार स्वामीसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययन में अणुव्रतों का वर्णन करनेवाला यह तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ॥

-: ०००:-

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुवृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७॥

अर्थ – अब आचार्य गुणव्रतों का स्वरूप कहते हैं – दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीनों को पूर्वोक्त अष्ट मूलगुणों की वृद्धि करने से आर्य पुरुष इन्हें गुणव्रत कहते हैं ॥६७॥

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥६८॥

अर्थ – दिग्व्रत का स्वरूप – दिग्वलय अर्थात् दशों दिशाओं की मर्यादा करके सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए 'मैं इस मर्यादा से बाहर नहीं जाऊँगा' – इस प्रकार का मरणपर्यन्त के लिए संकल्प करना दिग्व्रत है ॥६८॥

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि॥६९॥

अर्थ – दशों दिशाओं के प्रति संहार में अर्थात् दिग्व्रत ग्रहण करने में प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत जनपद (देश) और योजनों के परिमाण को मर्यादा जानना चाहिए। भावार्थ–जिस दिशा में जो पर्वत, समुद्र आदि प्रसिद्ध स्थान हो, उसको आश्रय लेकर और प्रसिद्ध स्थान के अभाव में योजनों की संख्या का नियम लेकर दिग्व्रत को ग्रहण करना चाहिए॥६९॥

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते॥७०॥

अर्थ – अब आचार्य दिग्व्रत को धारण करने का फल बतलाते हैं–दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति होने से दिग्व्रत को धारण करनेवाले श्रावकों के पाँच अणुव्रत भी पाँच महाव्रतों की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म पापों के त्याग को ही महाव्रत कहते हैं॥७०॥

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते॥७१॥

अर्थ – प्रत्याख्यानावरण कषाय के कृश होने से अत्यन्त मन्दता को प्राप्त हुए चारित्र मोह के वे परिणाम–जिनकी सत्ता का निश्चय करना भी कठिन है–महाव्रत के लिए कल्पित किए जाते हैं॥७१॥

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥७२॥

अर्थ – महाव्रत का स्वरूप – हिंसादिक पाँचों पापों का मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करना महाव्रत है और यह महापुरुषों के होता है॥७२॥

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३॥

अर्थ – दिग्व्रत के पाँच अतिचार माने जाते हैं – ऊर्ध्वदिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना, अधोदिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना, पूर्वादि तिर्यग्दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, मर्यादित क्षेत्र की वृद्धि कर लेना और मर्यादाओं को भूल जाना ॥७३॥

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं च विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

अर्थ – अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप – दिशाओं की मर्यादा के भीतर निरर्थक पाप-योगों से विरमण करने को व्रतधारियों में अग्रणी गणधरादि ने अनर्थदण्ड व्रत कहा है ॥७४॥

पापोदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुती पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

अर्थ – पापों के नहीं धारण करनेवाले निष्पाप आचार्यों ने अनर्थदण्ड के पाँच भेद कहे हैं – पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ॥७५॥

तिर्यक्-क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥७६॥

अर्थ – पापोपदेश अनर्थदण्ड का स्वरूप–तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने का–उन्हें बधिया करने आदि का उपदेश देना, तिर्यंचों के व्यापार करने का उपदेश देना, हिंसा, आरम्भ और दूसरों को छल-कपट से ठगने की कथाओं का प्रसंग उठाना, ऐसी कथाओं का बार-बार कहना – यह पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड माना गया है ॥७६॥

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७॥

अर्थ – हिंसादान-अनर्थदण्ड का स्वरूप – हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, आग, अस्त्र-शस्त्र, विष और सांकल आदि के देने को ज्ञानी जन हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं ॥७७॥

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७८॥

अर्थ -- अपध्यान-अनर्थदण्ड का स्वरूप – द्वेष से किसी प्राणी के वध बन्ध और छेदनादि का चिन्तवन करना तथा राग से परस्त्री आदि का चिन्तवन करना, इसे जिनशासन में निपुण पुरुषों ने अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहा है ॥७८॥

आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥७९॥

अर्थ – दुःश्रुति-अनर्थदण्ड का स्वरूप – आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम भाव के प्रतिपादन द्वारा चित्त को कलुषित करनेवाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति नाम का अनर्थ-दण्ड है ॥७९॥

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥८०॥

अर्थ – प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का स्वरूप – प्रयोजन के बिना भूमि का खोदना, पानी का ढोलना, अग्नि का जलाना, पवन का चलाना और वनस्पति का छेदन करना तथा निष्प्रयोजन स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना इत्यादि प्रमादयुक्त निष्फल कार्यों के करने को ज्ञानीजन प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं ॥८०॥

कन्दर्पकौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥८१॥

अर्थ – उपर्युक्त पाँचों प्रकार के अनर्थदण्डों के त्याग को

अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। उसके पाँच अतिचार इस प्रकार हैं–कन्दर्प (राग की बहुलता से युक्त हँसी मिश्रित अश्लील वचन बोलना), कौत्कुच्य (काय की कुचेष्टा करना), मौखर्य (व्यर्थ बकवाद करना), अति प्रसाधन (आवश्यकता से अधिक भोग-उपभोग वस्तुओं का संग्रह करना) और बिना सोचे-विचारे कार्य को करना ॥८१॥

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

अर्थ – तीसरे भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रत का स्वरूप-परिग्रहपरिमाणव्रत में ली हुई मर्यादा के भीतर भी राग और आसक्ति के कृश करने के लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रियों के विषयों की संख्या के सीमित करने को भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते हैं ॥८२॥

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥८३॥

अर्थ – पाँच इन्द्रियों के विषयभूत जो भोजन-वस्त्र आदिक पदार्थ एक बार भोग करके छोड़ दिए जावें, वे भोग कहलाते हैं और जो एक बार भोग करके भी पुनः भोगने योग्य होते हैं, वे उपभोग कहलाते हैं। अर्थात् भोजनादि पदार्थ भोग हैं और वस्त्रादिक उपभोग हैं ॥८३॥

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौशरणमुपयातैः ॥८४॥

अर्थ – जिनेन्द्रदेव के चरणों की शरण को प्राप्त होनेवाले पुरुषों को त्रस जीवों की हिंसा के परिहार के लिए मांस और मधु को तथा प्रमाद को दूर करने के लिए मद्य को छोड़ देना चाहिए ॥८४॥

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीत-निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥

अर्थ – इसी प्रकार जिनके खाने में शारीरिक लाभ अल्प है और

त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा अधिक है, ऐसे मूल, कन्द, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल, तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ पंच उदुम्बर फल आदि का सेवन छोड़ देना चाहिए ॥८५॥

यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति॥८६॥

अर्थ – जो वस्तु शरीर के लिए अनिष्ट या हानिकारक हो उसका भी त्याग करें तथा जो कुलीन पुरुषों के द्वारा सेवन के योग्य नहीं हो, उसे भी छोड़े। सेवन के योग्य भी विषय से अभिप्रायपूर्वक जो त्याग किया जाता है, वह भी व्रत कहलाता है ॥८६॥

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥८७॥

अर्थ – भोगोपभोग-परिमाणव्रत में दो प्रकार से त्याग का विधान किया गया है – नियमरूप और यमरूप। अल्पकाल के लिए जो त्याग किया जाता है, उसे नियम कहते हैं और यावज्जीवन के लिए जो त्याग किया जाता है, उसे यम कहते हैं ॥८७॥

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गराग कुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु॥८८॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥८९॥

अर्थ – (अभक्ष्य और अनुपसेव्य वस्तुओं का तो जीवन भर के लिए ही त्यागरूप यम ही धारण करना चाहिये और जो भोग्य या सेव्य हैं ऐसे) भोजन, वाहन, शयन, स्नान, केशर-चन्दन आदि का विलेपन, पुष्प-धारण, सूँघन आदि में तथा ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण, काम-सेवन, संगीत और गीत-श्रवण आदि भोग्य और सेव्य पदार्थों में आज का दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु (दो मास), अयन (छह मास) और वर्ष आदि काल

की मर्यादा के साथ जो वस्तु का प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है, वह नियम कहलाता है ॥८८-८९॥

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥

अर्थ – भोगोपभोग-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं – विषयरूप विष के सेवन से उपेक्षा नहीं होना, अर्थात् इन्द्रियों के विषयसेवन में आसक्ति बनी रहना, पूर्व में भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना, वर्तमान विषयों में अतिलोलुपता रखना, भविष्यकाल में विषय-सेवन की अतितृष्णा या गृद्धि रखना, और नियतकाल में भी भोगोपभोग की वस्तुओं का अधिक मात्रा में अनुभव करना अर्थात् उन्हें अधिक भोगना। इन पाँचों प्रकार के अतिचारों के सेवन से व्रत मलिन एवं सदोष होता है ॥९०॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि
उपासकाध्ययने गुणव्रतवर्णनं नाम चतुर्थमध्ययनम्।

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नाम के
उपासकाध्ययन में गुणव्रतों का वर्णन करनेवाला
चौथा अध्ययन समाप्त हुआ।

-: ०००:-

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥९१॥

अर्थ – अब शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं – जिनेन्द्रदेव ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य – ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥९१॥

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२॥

अर्थ – देशावकाशिकशिक्षाव्रत का स्वरूप – दिग्व्रत में ग्रहण किये विशाल देश का काल की मर्यादा से प्रतिदिन संकोच करना अणुव्रतधारी श्रावकों का देशावकाशिकव्रत है ॥९२॥

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥९३॥

अर्थ – घर, मोहल्ला, ग्राम, खेत, नदी, वन और योजनों की मर्यादा करने को वृद्ध तपस्वीजन देशावकाशिकव्रत की सीमा बतलाते हैं अर्थात् मैं अमुक समय तक अमुक देश से बाहर नहीं जाऊँगा, ऐसा नियम करना देशावकाशिकव्रत है ॥९३॥

संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४॥

अर्थ – वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चातुर्मास, पक्ष और नक्षत्र के आश्रय से नियत प्रदेश में रहने के नियम करने को ज्ञानीजन देशावकाशिकव्रत की कालमर्यादा कहते हैं ॥९४॥

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५॥

अर्थ – सीमाओं के अन्त से परवर्ती क्षेत्र में स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापों के त्याग हो जाने से देशावकाशिकव्रत के द्वारा महाव्रतों का साधन किया जाता है ॥९५॥

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥९६॥

अर्थ – देशावकाशिकव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं – देशव्रत की सीमा से बाहर किसी को भेजना, किसी को शब्द सुनाना, किसी को बुलाना, अपना रूप दिखाकर संकेत करना और कंकर-पत्थर फेंककर दूसरे का ध्यान अपनी और आकर्षित करना। इन

कार्यों को करने से सीमा के बाहर स्वयं नहीं जाने पर भी व्रत में दोष लगता है ॥९६॥

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७॥

अर्थ – अब सामायिक शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं – सामायिक का समय पूर्ण होने तक हिंसादि पाँचों पापों का पूर्णरूप से अर्थात् मन-वचन-काय और कृतकारित अनुमोदना से त्याग करने को आगम के ज्ञाता पुरुष सामायिक कहते हैं ॥९७॥

मूर्ध्वरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥९८॥

अर्थ – केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन, पर्यंकासनबन्धन, स्थान (खड़े रहना) और उपवेशन (बैठना) इनको सामायिक के जानकार सामायिक का समय जानते हैं ॥९८॥

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥९९॥

अर्थ – जहाँ पर चित्त में विक्षोभ उत्पन्न न हो ऐसे एकान्त स्थान में, वनों में, वसतिकाओं में अथवा चैत्यालयों में प्रसन्न चित्त से सामायिक की वृद्धि करना चाहिए ॥९९॥

व्यापार-वैमनस्याद् विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००॥

अर्थ – उपवास अथवा एकाशन के दिन गृह व्यापार और मन की व्यग्रता को दूर करके अन्तरात्मा में उत्पन्न होने वाले विकल्पों की निवृत्ति के साथ सामायिक का अनुष्ठान प्रारम्भ करें ॥१००॥

भावार्थ – जिस प्रकार तीसरी प्रतिमाधारी श्रावक को कम से कम दो घड़ी और अधिक से अधिक छह घड़ी सामायिक काल का

निर्देश किया गया है, उस प्रकार का वन्धन बारह व्रतों का अभ्यास करने वाले गृहस्थ के लिए नहीं है। गृहस्थ सामायिक का अभ्यास धीरे-धीरे अल्पकाल से प्रारम्भ करता है और उत्तरोत्तर समय को बढ़ाता जाता है। उसका मुख्य लक्ष्य आर्त्त और रौद्रध्यान से तथा संक्लेश भाव से बचकर आत्मा में स्थिर होने का है। प्रारम्भिक अभ्यासी को जब तक किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती है, तभी तक वह सामायिक में स्थिर होकर बैठ सकता है।

सामायिक प्रारम्भ करने के पूर्व वह सिर-केश चोटी आदि की गाँठ लगाता है, पहने और ओढ़े हुए वस्त्र की गाँठ लगाता है, जिसका भाव यह है कि सामायिक करते समय वायु से उड़कर ये मन को व्याकुल न करें। सामायिक में बैठते हुए पद्मासन में हाथों की मुट्ठी को बाँधता है अर्थात् दाहिनी हथेली को बाईं हथेली के ऊपर रखता है तथा कभी खड़े होकर भी सामायिक करता है। इन सबमें यही भाव निहित है कि जब तक मुझे बैठने या खड़े रहने में आकुलता नहीं होगी, तब तक मैं सामायिक करूँगा। इस प्रकार जब तक मेरे केशबन्ध आदि रहेंगे, तब तक मैं सामायिक करूँगा, ऐसी मर्यादा को सामायिक का काल जानना चाहिए।

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन॥१०१॥

अर्थ – पुनः आलस्य-रहित होकर सावधानी के साथ पाँचों व्रतों की पूर्णता करने के कारणभूत सामायिक का प्रतिदिन अभ्यास बढ़ाना चाहिए॥१०१॥

सामयिकं सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्॥१०२॥

अर्थ – यतः सामायिक काल में आरम्भसहित सभी परिग्रह

नहीं होते हैं, अतः उस समय गृहस्थ वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है ॥१०२॥

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३॥

अर्थ – सामायिक को प्राप्त हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे सामायिक के समय शीत, उष्ण और दंश-मशक आदि परिषह को तथा अकस्मात् आये हुए उपसर्ग को भी मौन-धारण करते हुए अचल योगी होकर अर्थात् मन-वचन-काय की दृढ़ता के साथ सहन करें ॥१०३॥

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

अर्थ – सामायिक के समय श्रावक को ऐसा विचार करना चाहिए कि जिस संसार में मैं रह रहा हूँ वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है और मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न है तथा मोक्ष इससे विपरीत स्वभाव वाला है, अर्थात् शरणरूप है, शुद्धरूप है, नित्य है, सुखमय है और आत्मस्वरूप है।

भावार्थ – संसार, देह और भोगों से उदासीन होने के लिए अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का मोक्षप्राप्ति के लिए उसके नित्य शाश्वत् सुखरूप का चिन्तवन करे ॥१०४॥

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमाः व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१०५॥

अर्थ – इस सामायिक शिक्षाव्रत के ये पाँच अतिचार हैं – सामायिक करते समय वचन का दुरुपयोग करना, मन में संकल्प-विकल्प करना, काय का हलन-चलन करना, सामायिक में अनादर करना और सामायिक करना भूल जाना। इनको सामायिक करते समय नहीं करना चाहिए ॥१०५॥

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥१०६॥

अर्थ – अब प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं – चतुर्दशी और अष्टमी के दिन सद्भावनाओं के साथ चारों प्रकार के आहारों के त्याग करने को प्रोषधोपवास जानना चाहिए॥१०६॥

पञ्चानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥१०७॥

अर्थ – उपवास के दिन हिंसादिक पाँचों पापों का, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अंजन और सूँघनी आदि का परित्याग करें॥१०७॥

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञान-ध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥

अर्थ – उपवास करने वाले श्रावक को चाहिए कि वह तन्द्रा और आलस्य से रहित होकर उपवास करते हुए उत्कण्ठा के साथ धर्मरूप अमृत को दोनों कानों से पान करे और दूसरों को भी पिलावे तथा ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहे॥१०८॥

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्-भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥१०९॥

अर्थ – चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है और एक बार भोजन करने को प्रोषध कहते हैं। इस प्रकार एकाशनरूप प्रोषध के साथ उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। इस प्रकार के प्रोषधोपवास को करके ही श्रावक गृहस्थी के आरम्भ को करता है। अर्थात् प्रोषधोपवास के काल में वह सर्व प्रकार के गृहारम्भ से रहित रहता है॥१०९॥

ग्रहणविसर्गाऽऽस्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासोव्यतिलंघनपञ्चकं तदिदम्॥११०॥

अर्थ – इस प्रोषधोपवासव्रत के उल्लंघन करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – उपवास के दिन बिना देखे-शोधे किसी वस्तु का ग्रहण करना, बिना देखे-शोधे मल-मूत्रादि का उत्सर्ग करना, बिना देखे-शोधे बिस्तरादि का बिछाना, उपवास करने में आदर नहीं करना और उपवास करना भूल जाना। अतः उपवास के दिन धर्म-साधन देख-शोधकर आदर और उत्साह के साथ सावधानी से करें॥११०॥

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥१११॥

अर्थ – अब आचार्य वैयावृत्य नामक चौथे शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं–गृह से रहित अर्थात् गृहत्यागी, गुणनिधान, तपोधन को अपना धर्म पालन करने के लिए उपचार (प्रतिदान) और उपकार की अपेक्षा से रहित होकर विधिपूर्वक अपने विभव के अनुसार दान देने को वैयावृत्य कहते हैं॥१११॥

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥११२॥

अर्थ – गुणानुराग से संयमी पुरुषों की आपत्तियों को दूर करना, उनके चरणों का मर्दन करना (दाबना) तथा इसी प्रकार की और भी जो उनकी सेवा-टहल या सार-सँभाल की जाती है, वह सब वैयावृत्य है॥११२॥

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥११३॥

अर्थ – पाँच सूना रूप पापकार्यों से रहित आर्य पुरुषों को नौ पुण्यों के साथ शुद्ध सप्त गुण से संयुक्त श्रावक के द्वारा जो आहारादि देने

के रूप में आदर-सत्कार किया जाता है, वह दान कहा जाता है ॥११३॥

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजां रुधिरमलं धावते वारि॥११४॥

विशेषार्थ – ओखली, चक्की, चौका-चूल्हा, जलघटी और बुहारी, इन पाँच के आरम्भ को पंचसूना कहते हैं। जो इनसे रहित है, वही पात्र कहलाने के योग्य है। साधु के आहारार्थ द्वार के आगे आने पर उन्हें पड़गाहना, ऊँचे आसन पर बैठाना, पाद-प्रक्षालन करना, अर्चन-पूजन करना, प्रणाम करना, मन शुद्ध करना, वचन शुद्ध बोलना, काय शुद्ध रखना और भोजन की शुद्धि रखना – ये नौ पुण्य हैं, जो कि नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये दाता के सात गुण होते हैं। इन गुणों से युक्त दाता को पंचसूना से रहित साधुओं के लिए नवधा भक्ति से आहारादि के देने को दान कहते हैं।

अब आचार्य दान का फल बतलाते हैं – गृह से रहित अतिथिजनों को पूजा-सत्कार के साथ दिया गया दान गृहस्थों के गृह-कार्यों से संचित पापकर्म को दूर कर देता है। जैसे कि जल रक्त को अच्छी तरह धो डालता है ॥११४॥

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥११५॥

अर्थ – तपोनिधि साधुओं को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, दान देने से भोग, उपासना करने से पूजा, भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है ॥११५॥

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥११६॥

अर्थ – उत्तम भूमि में बोये गये वट के छोटे से भी बीज के

समान पात्र में दिया गया अल्प भी दान समय आने पर प्राणियों के छायारूप वैभव के साथ भारी मिष्ट फल को देता है ॥११६॥

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्त्राः ॥११७॥

अर्थ – वैयावृत्त्य के भेद और उनके देनेवालों में प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन करते हैं – आहार, औषधि, उपकरण (ज्ञान संयम के साधन शास्त्र, पीछी, कमंडलु) और आवास (वसतिका) के दान से वैयावृत्त्य को ज्ञानीजन चार प्रकार का कहते हैं ॥११७॥

श्रीषेण-वृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्त्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥११८॥

अर्थ – इस चार भेदरूप वैयावृत्त्य के क्रमशः श्रीषेण राजा, वृषभसेना वणिक् पुत्री, कौण्डेश मुनि और सूकर को दृष्टान्त जानना चाहिए अर्थात् ये चारों क्रम से आहारादि दानों के देने वालों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए हैं ॥११८॥

देवाधिदेवचरणं परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११९॥

अर्थ – अब आचार्य बतलाते हैं कि वैयावृत्त्य करने वाले गृहस्थ को जिन-पूजन भी करना आवश्यक है – आदरपूर्वक, नित्य सर्वकामनाओं के पूर्ण करनेवाले और कामविकार के जलाने वाले देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्र भगवान की सर्व दुःखों की विनाशक परिचर्या अर्थात् पूजा-अर्चा भी करनी चाहिए ॥११९॥

अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

अर्थ – राजगृह नगर में अति प्रमोद को प्राप्त मेंढ़क ने एक पुष्प के द्वारा पूजन के भाव से अरहन्तदेव के चरणों की पूजा के माहात्म्य को

महात्मा पुरुषों के आगे प्रकट किया है ॥१२०॥

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१॥

अर्थ – इस वैयावृत्त्य शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं–हरित पत्र से ढकी वस्तु को आहार में देना, हरित पत्र पर रखी वस्तु को आहार में देना, अनादरपूर्वक आहारादि देना, दान देने को और दानविधि को भूल जाना तथा अन्य दाता के साथ मत्सर भाव रखना। इनका त्याग कर दान देना चाहिए ॥१२१॥

इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने शिक्षाव्रतवर्णनं नाम पञ्चममध्ययनम्।

इस स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डक नामवाले
उपासकाध्ययन में शिक्षाव्रतों का वर्णन करनेवाला
पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

–: ०००० :–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥

अर्थ – अब आचार्य सल्लेखना का वर्णन करते हैं – निष्प्रतीकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा के लिए शरीर के परित्याग करने को आर्य पुरुष सल्लेखना कहते हैं ॥१२२॥

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥

अर्थ – जीवन के अन्त समय में संन्यासरूप क्रिया का आश्रय लेना ही जीवन भर की तपस्या का फल है, ऐसा सर्वदर्शी भगवन्तों ने कहा है। इसलिए जब तक शक्ति रहे, तब तक समाधिमरण करने में

प्रयत्न करते रहना चाहिए॥१२३॥

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥१२४॥

अर्थ – सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब-मित्रादि से स्नेह दूर कर, शत्रुजनों से वैर भाव हटाकर, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर, शुद्ध मन होकर स्वजनों और परिजनों को क्षमा करके प्रिय वचनों के द्वारा उनसे भी क्षमा माँगे॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितामनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥१२५॥

अर्थ – पुनः जीवन भर के कृत, कारित और अनुमोदित सर्वपापों की निश्छल भाव से आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले सर्व महाव्रतों को धारण करें॥१२५॥

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥१२६॥

अर्थ – इस प्रकार सल्लेखना स्वीकार करने के पश्चात् शोक, भय, विषाद, क्लेश, कालुष्य और अरति भाव को भी छोड़कर बल और उत्साह को प्रकट कर अमृतमय श्रुत के वचनों से मन को प्रसन्न रखें॥१२६॥

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥१२७॥

अर्थ – साथ ही क्रम से अन्न के आहार को घटाकर दुग्धादिरूप स्निग्धपान को बढ़ावे। पुनः क्रम से स्निग्धपान को भी घटाकर छाछ-उष्ण जल आदि खर-पान को बढ़ावें॥१२७॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥१२८॥

अर्थ – पुनः धीरे-धीरे खर-पान को घटाकर और अपनी शक्ति के अनुसार उपवास को भी करके पंच नमस्कार मंत्र को मन में जपते और उसका चिन्तवन करते हुए सम्पूर्ण प्रयत्न के साथ सावधानीपूर्वक शरीर को छोड़े ॥१२८॥

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥

अर्थ – जिनेन्द्र देवों ने सल्लेखना के ये पाँच अतिचार कहे हैं – सल्लेखना स्वीकार करने के पश्चात् जीने की आकांक्षा करना, मरने की आकांक्षा करना, परीषह-उपसर्गादि से डरना, मित्रों का स्मरण करना और आगामी भव में सुख पाने के लिए निदान करना। इनसे रहित हो करके ही समाधिमरण करना चाहिए ॥१२९॥

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुखैरनालीढः ॥१३०॥

अर्थ – अब आचार्य अतीचार-रहित सल्लेखना करने का फल बतलाते हैं – जिसने रत्नत्रयरूप धर्म का पान किया है, ऐसा पुरुष सर्व दुःखों से रहित होकर उस निःश्रेयसरूप सुख के सागर का अनुभव करता है, जो निस्तीर है – जिसका अन्त नहीं है और जो अतिदुस्तर है, जिसका पाना अति कठिन है, ऐसे अहमिन्द्रादि पदरूप अभ्युदय का भी अनुभव करता है अर्थात् सल्लेखना करनेवाला संसार के सर्व अभ्युदय सुख को भोगकर अन्त में मोक्ष के सुख को भोगता है ॥१३०॥

जन्मजराभयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

अर्थ – वह निःश्रेयस जन्म, जरा, मरण, शोक, दुःख और भय से सर्वथा रहित है, नित्य और जहाँ पर शुद्ध आत्मिक सुख है, उसी को निर्वाण मुक्ति और शिव आदि कहते हैं ॥१३१॥

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥१३२॥

अर्थ – उस निःश्रेयसरूप मोक्ष में रहनेवाले सिद्ध भगवन्त अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुखरूप परम स्वास्थ्य, आनन्द, तृप्ति एवं शुद्धि से संयुक्त रहते हैं, वे हीनाधिक भाव से रहित समान अनन्त गुणों के धारक हैं और अनन्त काल तक सुखपूर्वक उस निःश्रेयस् में निवास करते हैं॥१३२॥

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः॥१३३॥

अर्थ – यदि तीनों लोकों को उलट-पुलट करने में समर्थ कोई महान् उत्पाद भी होवे तो भी तथा सैकड़ों कल्पकालों के बीत जाने पर भी मुक्त जीवों के किसी प्रकार का विकार नहीं होता है॥१३३॥

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः॥१३४॥

अर्थ – उस निःश्रेयस् को प्राप्त हुए जीव कीट और कालिमा से रहित स्वच्छ सुवर्ण के समान दैदीप्यमान आत्मस्वरूप के धारक होकर त्रैलोक्य के चूड़ामणि रत्न की शोभा को धारण करते हैं॥१३४॥

पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥१३५॥

अर्थ – तथा वह समीचीन - सत्यधर्म पूजा, सम्पत्ति, आज्ञा, ऐश्वर्य से तथा परिजन और मनोऽनुकूल भोगों की अधिकता से लोकातिशायी अद्भुत अभ्युदय को अर्थात् स्वर्गादि के सांसारिक सुखों को भी फलता है॥१३५॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने सल्लेखनावर्णनं नाम षष्ठमध्ययनम्।

इस प्रकार स्वामीसमन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डनामक
उपासकाध्ययन में सल्लेखना का
वर्णन करनेवाला छठा अध्ययन समाप्त हुआ।

-: ००० :-

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वं गुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

अर्थ – अब आचार्य श्रावक के ग्यारह पद या प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं – श्री तीर्थंकर देवों ने श्रावक के ग्यारह पद कहे हैं, जिनमें निश्चय से प्रत्येक पद के गुण अपने से पूर्ववर्ती गुणों के साथ क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं ॥१३६॥

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१३७॥

अर्थ – पहले दार्शनिक पद का स्वरूप – जो अतीचार-रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, संसार, शरीर और इन्द्रियों के भोगों से विरक्त है, पंच परमेष्ठी के चरणों की शरण को प्राप्त है और जो तात्त्विक सन्मार्ग के ग्रहण करने का पक्ष रखता है, वह दार्शनिक श्रावक है ॥१३७॥

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीतसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३८॥

अर्थ – दूसरे व्रतिक पद का स्वरूप – जो पुरुष माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर निरतीचार पाँचों अणुव्रतों को भी और तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत रूप सातों शीलों को भी धारण करता है, वह व्रतीजनों के मध्य में व्रतिक श्रावक कहलाता है ॥१३८॥

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१३९॥

अर्थ – तीसरे सामायिक पदधारी श्रावक का स्वरूप – चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करनेवाला, यथाजातरूप से अवस्थित, ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक, मन-वचन-काय इन तीनों योगों की शुद्धिवाला और प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल – इन तीनों सन्ध्याओं में वन्दना को करनेवाला सामायिकी श्रावक है ॥१३९॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है कि एक-एक कायोत्सर्ग करते समय 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिक दण्डक और 'थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे' इत्यादि स्तवदण्डक पढ़े जाते हैं। इन दोनों दण्डकों के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्तों के साथ एक-एक नमस्कार करें। इस प्रकार बारह आवर्त और चार प्रणामों का विधान जानना चाहिए। दोनों हाथों को मुकुलित करके उन्हें प्रदक्षिणा के रूप में घुमाने को आवर्त कहते हैं। वर्तमान में सामायिक करने के पूर्व चारों दिशाओं में एक-एक कायोत्सर्ग करके तीन-तीन आवर्त करके नमस्कार करने की विधि प्रचलित है, पर उसका लिखित आगम आधार उपलब्ध नहीं है।

प्रभाचन्द्राचार्य रचित मुद्रित क्रियाकलाप में सामायिक दण्डक और स्तवदण्डक संकलित है, उनको वहाँ से जानना चाहिए। चारित्रसार और अनगारधर्मामृत आदि में उक्त विधि कुछ अन्तर से दृष्टिगोचर होती है। मूल श्लोक में पठित 'यथाजातः' पद विशेषरूप से विचारणीय है, क्योंकि इस पद का सीधा अर्थ जन्मकाल जैसी नग्नता का होता है। पूर्व में वर्णित सामायिक शिक्षाव्रत में इस पद को नहीं देना और इस तीसरे प्रतिमा के वर्णन में उसका देना यह सूचित करता है कि तीसरी प्रतिमाधारी को नग्न होकर के सामायिक करना चाहिए।

टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य 'यथाजात' पद का अर्थ बाह्य-अभ्यन्तर

परिग्रह की चिन्ता से रहित ऐसा करते हैं, पर समन्तभद्र स्वामी तो इसकी सूचना 'सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि। चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्' - इस श्लोक (संख्या १०२) में सामायिक शिक्षाव्रत के वर्णन में कर चुके हैं और उसे वस्त्र-वेष्टित मुनि के तुल्य बतला आये हैं, अतः इस तीसरी प्रतिमा के वर्णन में 'यथाजात' पद देकर उन्होंने स्पष्ट रूप से नग्न दिगम्बर वेष में सामायिक करने का विधान किया है। यतः सामायिक को एकान्त में करने का विधान है, अतः तीसरी प्रतिमाधारी के लिए वैसा करना संभव भी है।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥१४०॥

अर्थ – चौथे प्रोषधपदधारी श्रावक पद का स्वरूप – प्रत्येक मास के चारों ही पर्व दिनों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर सावधान होकर प्रोषधोपवास को नियमपूर्वक करनेवाला प्रोषधोपवासी श्रावक कहलाता है ॥१४०॥

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥

अर्थ – पाँचवें सचित्त विरत पद का स्वरूप – जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल), करीर (कैर) कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित्त विरत पद का धारी श्रावक है ॥१४१॥

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥१४२॥

अर्थ – छठे रात्रिभुक्तिविरत पद का स्वरूप – जो पुरुष प्राणियों पर दयार्द्रचित्त होकर रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य - इन चारों ही प्रकार के आहार को नहीं खाता है, वह रात्रिभुक्ति विरतश्रावक है ॥१४२॥

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पुतिगन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

अर्थ – सातवें ब्रह्मचारी श्रावक पद का स्वरूप – जो पुरुष मल का बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला, दुर्गन्ध से युक्त और बीभत्स आकारवाले स्त्री के अंग को देखकर अनंग सेवन से विराम लेता है अर्थात् स्त्री सेवन का सर्वथा त्याग करता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक है ॥१४३॥

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥

अर्थ – आठवें आरम्भ विरत श्रावक पद का स्वरूप – जो जीवहिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ से निवृत्त होता है, वह आरम्भनिवृत्त श्रावक कहा जाता है ॥१४४॥

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥

अर्थ – नवें परिग्रह विरत श्रावक पद का स्वरूप – जो धन धान्यादि बाह्य दशों प्रकार की वस्तुओं में ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व भावना में निरत रहता है, मायाचार आदि को छोड़कर स्वस्थ (आत्मस्थ) रहता है और परम सन्तोष को धारण करता है, वह चित्त में संसाररूप से बसे हुए परिग्रह से विरत श्रावक जानना चाहिए ॥१४५॥

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

अर्थ – दशवें अनुमति विरत पदधारी श्रावक का स्वरूप – जिसके निश्चय से गृह के कृषि आदि आरम्भ में, परिग्रह में और इस लोक सम्बन्धी लौकिक कार्यों में अनुमोदना नहीं है, वह समभाव का धारक अनुमतिविरत श्रावक मानना चाहिए ॥१४६॥

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

अर्थ – ग्यारहवें उद्दिष्टविरत पदधारी श्रावक का स्वरूप – जो घर से मुनियों के निवास वाले वन में जाकर और गुरु के समीप व्रतों को ग्रहण करके भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करते हुए तपस्या करता है और वस्त्र-खण्ड को धारण करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है ॥१४७॥

ग्रन्थ का उपसंहार

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८॥

अर्थ – यद्यपि ग्रन्थकार ने इस पद के भेदों को नहीं कहा है, तथापि 'चेलखण्ड – धर' पद से लँगोटी रखनेवाले और एक छोटा वस्त्र रखनेवाले ऐलक और क्षुल्लक का ग्रहण हो जाता है।

जीव को 'पाप शत्रु है, और धर्म बन्धु है,' – ऐसा हृदय में निश्चय करता हुआ पुरुष यदि समय (आगम) को जानता है, तो वह निश्चय से श्रेयो ज्ञाता अर्थात् आत्म कल्याण का जानकार है ॥१४८॥

धर्म के फल का उपसंहार

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४९॥

अर्थ – जिस भव्य जीव ने अपने आत्मा को निर्दोष विद्या (सम्यग्ज्ञान), निर्दोष दृष्टि (सम्यग्दर्शन) और निर्दोष क्रिया (सम्यक्चारित्र) रूप रत्नों के पिटारे या भाजन के रूप में परिणत किया है, उसे तीनों लोकों में सर्व पुरुषार्थों की सिद्धि स्वयं प्राप्त होती है। जैसे कि स्वयं वरण करने वाली कन्या योग्य पति को स्वयं प्राप्त होती है ॥१४९॥

अन्तिम मंगल

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी माँ शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१५०॥

अर्थ - जिनेन्द्र देव के चरण-कमलों को देखने वाली सुखों की भूमि ऐसी सम्यग्दर्शनरूपी दृष्टिलक्ष्मी मुझे उसी प्रकार सुखी करे, जिस प्रकार कि कामी पुरुष को उसकी कामिनी स्त्री सुखी करती है, वह दृष्टिलक्ष्मी शुद्ध शीलवाली जननी के समान मेरी रक्षा करे और वह दृष्टिलक्ष्मी मुझे उस प्रकार से पवित्र करे, जैसे कि गुण-भूषित कन्या कुल को पवित्र करती है॥१५०॥

॥ इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने श्रावकपदवर्णनं नाम सप्तमाध्ययनं समाप्तम्॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययन में श्रावक के ग्यारह पदों का वर्णन करने वाला सातवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

○○○

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-गत
श्रावकधर्म-वर्णन

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ॥१॥

अर्थ – जो त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायों से संयुक्त समस्त लोक और अलोक को (और उनमें वर्तमान द्रव्यों को) प्रत्यक्ष जानता है, वह सर्वज्ञ देव हैं ॥१॥

जो ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदियं अत्थं।
इंदियणाणं ण मुणदि थूलं पि असेसपज्जायं ॥२॥

अर्थ – यदि सर्वज्ञ न होता, तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानता? इन्द्रिय ज्ञान तो समस्त स्थूल पर्यायों को भी नहीं जानता है ॥२॥

तेणुवइट्ठि धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारहभेओ दहभेओ भासिओ विदिओ ॥३॥

अर्थ – उस त्रिलोक-त्रिकाल सर्वज्ञ के द्वारा कहा हुआ धर्म दो प्रकार का है – एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थों का धर्म और दूसरा परिग्रह-रहित मुनियों का धर्म। पहला धर्म बारह भेदवाला और दूसरा धर्म दश भेदवाला कहा गया है ॥३॥

सम्मद्दंसणसुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं।
वयधारी सामाइउ पव्ववई पासुयाहारी ॥४॥
राईभोयणविरओ मेहुण-सारंभ-संगचत्तो य।
कज्जाणुमोयविरओ उद्दिट्ठाहारविरदो य ॥५॥

अर्थ – उनमें से गृहस्थ या श्रावक धर्म के बारह भेद इस प्रकार हैं – १. शंकादि दोषों से रहित शुद्धसम्यग्दृष्टि, २. मद्य-मांसादि-भक्षण रूप स्थूल दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि, ३. व्रतधारी, ४. सामायिकव्रती,

५. पर्वव्रती, ६. प्रासुकाहारी, ७. रात्रि भोजनत्यागी, ८. मैथुनत्यागी, ९. आरम्भत्यागी, १०. परिग्रहत्यागी, ११. कार्यानुमोदविरत और १२. उद्दिष्ट-आहार-विरत ॥४-५॥

चदुगदिभव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जत्तो।
संसारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥६॥

अर्थ – अब श्रावक के प्रथम भेद का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य जीव का वर्णन करते हैं – चारों गतियों में उत्पन्न हुआ भव्य संज्ञी विशुद्ध परिणामी जागता हुआ पर्याप्तक ज्ञानी जीव संसार-तट के निकट आने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ॥६॥

सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं।
खयदो य होदि खइयं केवलिमूले मणुस्सस्स ॥७॥

अर्थ – दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा चारित्र मोहकर्म की अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ – इन सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है तथा इन ही सातों प्रकृतियों का केवली के पादमूल में क्षय करने वाले मनुष्य के क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥७॥

अण-उदयादो छण्हं सजाइरूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्तकम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ॥८॥

अर्थ – उपर्युक्त सात प्रकृतियों में समान जातीय प्रकृतियों के रूप से उदय होनेवाली छह प्रकृतियों के अनुदय से और सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥८॥

गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंखयाराओ।
पढम कसाय विणासं देसवयं कुणदि उक्कस्सं ॥९॥

अर्थ – औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व, प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का विनाश अर्थात् विसंयोजन और देशव्रत

इनको यह जीव उत्कर्ष से असंख्य बार ग्रहण करता और छोड़ता है ॥९॥

भावार्थ – उक्त चारों को यह जीव अधिक से अधिक पल्य के संख्यातवें भाग बार ग्रहण कर छोड़ सकता है।

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च ॥१०॥
जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।
सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥११॥

अर्थ – अब सम्यग्दृष्टि के तत्त्वश्रद्धान आदि परिणति का विशेष वर्णन करते हैं – जो लोगों के प्रश्नों के वश से और व्यवहार को चलाने के लिए सप्तभंगी के द्वारा नियम से अनेकान्तात्मक तत्त्व का श्रद्धान करता है, जो आदर के साथ जीव-अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को श्रुतज्ञान से और नयों से भलीभाँति जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥१०-११॥

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ सव्व-अत्थेसु।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं ॥१२॥
विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि।
मोहविलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥१३॥
उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो।
साहम्मिय-अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥१४॥

अर्थ – जो पुत्र-स्त्री आदि सर्व पदार्थों में गर्व को नहीं करता है, उपशमभाव को भाता है और अपने को तृण--समान समझता है, विषयों में आसक्त होता हुआ भी और सदा सर्व आरम्भों में प्रवृत्त होता हुआ भी जो 'यह मोहकर्म का विलास है' ऐसा समझकर सबको हेय मानता है, जो उत्तम गुणों के ग्रहण करने में तत्पर रहता है, उत्तम साधुओं की विनय करता है और साधर्मी जनों का अनुरागी है, वह परम सम्यग्दृष्टि है ॥१२-१४॥

देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेदि॥१५॥
णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी॥१६॥

अर्थ – जो देह में मिले हुए भी जीवों को अपने ज्ञानगुण से अर्थात् भेदविज्ञान से भिन्न जानता है और जीव से मिले हुए भी देह को सांप की कांचली के समान भिन्न जानता है, जो रागादि दोषों के विजेता अरिहन्त को देव मानता है, सर्व जीवों पर दया करने को परम धर्म मानता है और परिग्रह के त्यागी को गुरु मानता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है॥१५-१६॥

दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥१७॥

अर्थ – जो दोष-सहित व्यक्ति को देव मानता है, जीव-हिंसादि से संयुक्त कार्य को धर्म मानता है और परिग्रह में आसक्त पुरुष को गुरु मानता है, वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है॥१७॥

ण य कोवि देदि लच्छी ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥१८॥

अर्थ – जो लोग हरि-हरादिक को लक्ष्मी-दाता मानकर पूजते हैं, उन्हें लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि न तो कोई किसी को लक्ष्मी देता है और न कोई अन्य पुरुष जीव का उपकार ही करता है। पूर्व में किये हुए शुभ और अशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अपकार करते हैं॥१८॥

भत्तीएँ पुज्जमाणो विंतरदेवोवि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥१९॥

अर्थ – यदि भक्ति से पूजा गया व्यन्तदेव भी लक्ष्मी दे सकता है तो फिर धर्म करने की क्या आवश्यकता है इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने मन में विचार करता है॥१९॥

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेणं णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥२०॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥२१॥

अर्थ – जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस प्रकार से, जो जन्म अथवा मरण जिन देव ने नियतरूप से जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में और उसी प्रकार से अवश्य होगा। उसे निवारण करने के लिए इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी नहीं रोक सकता ॥२०-२१॥

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी ॥२२॥

अर्थ – इस प्रकार जो निश्चय से सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों को जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्व में शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥२२॥

जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं।
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥२३॥

अर्थ – जो तत्त्व को नहीं जानता है, किन्तु जिन-वचन में श्रद्धान करता है कि जिनेन्द्रों ने जो कहा है, उस सबकी मैं श्रद्धा करता हूँ, ऐसा निश्चय वाला जीव भी सम्यग्दृष्टि है ॥२३॥

रयणाण महारयणं सव्वं जोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धीण महारिद्धी सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥२४॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन सर्व रत्नों में महारत्न है, सर्वयोगों में उत्तम योग है, सर्व ऋद्धियों में महाऋद्धि है और सर्व प्रकार की सिद्धि का करने वाला है ॥२४॥

सम्मत्तगुणपहाणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि।
चत्तवओ वि य पावदि सग्गसुहं उत्तमं विविहं ॥२५॥

अर्थ – सम्यक्त्व गुण की प्रधानता वाला जीव देवेन्द्रों और नरेन्द्रों से वन्दनीय होता है और व्रत-रहित होने पर भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्गसुख को पाता है ॥२५॥

सम्माइट्ठी जीवो दुग्गदिहेदुं ण बंधदे कम्मं।
जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥२६॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गति के कारणभूत पापकर्म को नहीं बाँधता है और पूर्व के अनेक भवों में बंधा हुआ जो दुष्कर्म है, उसका भी नाश करता है ॥२६॥

बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियदं सो दंसणसावओ होदि ॥२७॥

अर्थ – अब दूसरे दार्शनिक श्रावक का स्वरूप कहते हैं – जो सम्यक्त्वी जीव अनेक त्रसजीवों से भरे हुए मद्य-मांसादि निन्द्य द्रव्य का नियम से सेवन नहीं करता है, वह दार्शनिक श्रावक है ॥२७॥

जो दिढचित्तो कीरदि एयं पि वयं णियाण-परिहीणो।
वेरग्गभावियमणो सो वि य दंसणगुणो होदि ॥२८॥

अर्थ – जो दृढ़चित्त होकर उक्त एक भी व्रत का पालन करता है, निदान से रहित है और वैराग्य से जिसका मन भरा हुआ है, वह पुरुष दर्शन गुणवाला श्रावक है ॥२८॥

पंचाणुव्वयधारी गुणवय-सिक्खावएहिं संजुत्तो।
दिढचित्तो समजुत्तो णाणी वयसावओ होदि ॥२९॥

अर्थ – अब तीसरे व्रतिक श्रावक का स्वरूप कहते हैं – जो ज्ञानी पाँच अणुव्रतों का धारक है, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त है, दृढ़चित्त है और समभावी है, वह व्रतिक श्रावक है ॥२९॥

जो वावरेइ सदओ अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो।
णिंदण-गरहणजुत्तो परिहरमाणो महारंभे ॥३०॥

तसघादं जो ण करदि मण-वय-काएहि णेव कारयदि।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥३१॥

अर्थ – अब अहिंसाणुव्रत का स्वरूप कहते हैं–जो अपने समान दूसरे को भी मानता हुआ उनके साथ दया-सहित व्यवहार करता है, अपनी निन्दा और गर्हा से युक्त है, महान आरम्भों का परिहार करता हुआ जो त्रसजीवों के घात को मन-वचन-काय से न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और न करते हुए पुरुष की अनुमोदना ही करता है, उसके पहला अहिंसाणुव्रत होता है ॥३०-३१॥

हिंसा-वयण ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि ॥३२॥
हिद-मिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्म-पयासणवयणं अणुव्वदी होदि सो विदिओ ॥३३॥

अर्थ – अब सत्याणुव्रत का स्वरूप कहते हैं – जो हिंसा करने वाले वचन नहीं बोलता है, कर्कश वचन भी नहीं कहता है तथा निष्ठुर वचन और दूसरे की गुप्त बात को भी प्रकट नहीं करता है, किन्तु सर्व जीवों को सन्तुष्ट करने वाले हित-मित-प्रिय एवं धर्म-प्रकाशक वचन बोलता है, वह दूसरे सत्याणुव्रत का धारक श्रावक है ॥३२-३३॥

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ॥३४॥
जो परदव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥३५॥

अर्थ – अब तीसरे अचौर्याणुव्रत का स्वरूप कहते हैं – जो बहुत मूल्यवाली वस्तु को अल्प मूल्य से नहीं लेता है, दूसरे की भूली हुई भी वस्तु को नहीं ग्रहण करता है, जो अल्प लाभ में भी सन्तोष धारण करता है, जो पराये द्रव्य को, माया से, लोभ से, क्रोध से और मान से अपहरण नहीं करता है, जो धर्म में दृढ़ चित्त है और शुद्ध बुद्धि का धारक

है, वह तीसरे अणुव्रत का धारी श्रावक है ॥३४-३५ ॥

असुइमयं दुग्गंधं महिलादेहं विरज्जमाणो जो।
रूवं लावण्णं पि य मणमोहण-कारणं मुणइ ॥३६ ॥
जो मण्णदि परमहिलं जणणी-बहिणी-सुआइ सारिच्छं।
मण-वयणे काएण वि बंभवई सो हवे थूलो ॥३७ ॥

अर्थ – अब चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप कहते हैं – जो पुरुष स्त्री के देह को अशुचिमय और दुर्गन्धित देखकर उससे विरक्त होता हुआ उनके रूप लावण्य को भी मन के मोहित करने का कारण मानता है, और जो पराई स्त्रियों को अपनी माता, बहिन और पुत्री के सदृश मन, वचन, काय से समझता है, वह स्थूल ब्रह्मचर्य का धारक श्रावक है ॥३६-३७ ॥

जो लोहं णिहणित्ता संतोसरसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३८ ॥
जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं।
उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥३९ ॥

अर्थ – अब पाँचवें परिग्रह-परिमाणाणुव्रत का स्वरूप कहते हैं –जो पुरुष लोभ को जीतकर सन्तोषरूप रसायन से सन्तुष्ट रहता है और संसार की सर्व वस्तुओं को विनश्वर मानता हुआ दुष्ट तृष्णा का विनाश करता है, तथा अपने उपयोग को जानकर आवश्यक धन-धान्य, सुवर्ण-क्षेत्र आदि दश प्रकार के परिग्रह का परिमाण करता है, उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है ॥३८-३९ ॥

जह लोहणासणट्ठं संगपमाणं हवेइ जीवस्स।
सव्वदिसाण पमाणं तह लोहं णासए णियमा ॥४० ॥
जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं।
उवओगं जाणित्ता गुणव्वदं जाण तं पढमं ॥४१ ॥

अर्थ – अब तीन गुणव्रतों में से पहले दिग्व्रतनामक गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं – जिस प्रकार लोभ के नाश करने के लिए जीव के परिग्रह का प्रमाण होता है, उसी प्रकार लोभ का नाश करने के लिए नियम से सर्व दिशाओं का भी प्रमाण करना आवश्यक है। जो पुरुष उपयोगी जानकर सुप्रसिद्ध सभी दिशाओं में जाने-आने का जीवन भर के लिए परिमाण करता है, उसके प्रथम गुणव्रत जानना चाहिए॥४०-४१॥

कज्जं किंपि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवदि अणत्थो पंचपयारो वि सो विविहो॥४२॥

अर्थ – अब अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं – जो पदार्थ अपना कुछ भी कार्य नहीं साधता है, किन्तु नित्य ही पाप को करता है, वह पदार्थ अनर्थ कहलाता है, वह अनर्थ दण्ड पाँच प्रकार का है और प्रत्येक भेद अनेक रूप भेद हैं॥४२॥

परदोसाण वि गहणं परलच्छीणं समीहणं जं च।
पर-इत्थी-अवलोओ पर-कलहालोयणं पढमं॥४३॥

अर्थ – अन्य पुरुष के दोषों को ग्रहण करना, दूसरे की लक्ष्मी का चाहना, परस्त्री का अवलोकन करना और अन्य की कलह को देखना, यह अपध्यान नाम का प्रथम अनर्थ दण्ड है॥४३॥

जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसुपालण-वणिज्जपमुहेसु।
पुरिसित्थी-संजोए अणत्थदंडो हवे विदिओ॥४४॥

अर्थ – खेती करने का, पशु-पालन का और वाणिज्य आदि आरम्भ कार्यों का जो उपदेश दिया जाता है तथा पुरुष और स्त्री के विवाह आदि के रूप में संयोग करने-कराने का कथन किया जाता है, वह दूसरा पापोपदेशनाम का अनर्थदण्ड है॥४४॥

विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि-वाऊणं।
तह वि वणप्फदि-छेदो अणत्थदंडो हवे तिदिओ॥४५॥

अर्थ – पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का निष्फल व्यापार करना तथा वनस्पति का निष्प्रयोजन विच्छेद करना सो प्रमादचर्या नाम का तीसरा अनर्थदण्ड है ॥४५॥

मज्जार पहुदि-धरणं आउह-लोहादिविक्कणं जं च।
लक्खा-खलादिगहणं अणत्थदंडो हवे तुरियो ॥४६॥

अर्थ – बिल्ली-कुत्ता आदि मांस-भक्षी पशुओं का पालना, आयुध और लोहा आदि का बेचना, लाख और खली आदि का संग्रह करना यह हिंसादान नाम का चौथा अनर्थदण्ड है ॥४६॥

जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-कामसत्थाणं।
परदोसाणं च तहा अणत्थदंडो हवे चरिमो ॥४७॥

अर्थ – कुमार्ग-प्रतिपादक शास्त्रों का सुनना, भंडन, वशीकरण और कामशास्त्र का सुनना, तथा अन्य पुरुषों के दोषों का सुनना, यह दु:श्रुतिनाम का अन्तिम अर्थात् पाँचवाँ अनर्थदण्ड है ॥४७॥

एव पंचपयारं अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं।
जो परिहरेदि णाणी गुणव्वदी सो हवे विदिओ ॥४८॥

अर्थ – ऐसे पाँच प्रकार के दु:खदायक अनर्थदण्डों को जानकर जो ज्ञानी नित्य ही उनका परिहार करता है, वह दूसरे अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत का धारक श्रावक है ॥४८॥

जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंवोल-वत्थमादीणं।
जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ॥४९॥

अर्थ – अब भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं – जो पुरुष अपने वित्त और शक्ति के अनुसार भोजन, ताम्बूल आदि भोगों वाली वस्त्र-भवन आदि उपभोगों वाली वस्तु-सम्पदा का परिमाण करता है, उसके भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरा गुणव्रत होता है ॥४९॥

जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि।
जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियरं॥५०॥

अर्थ – जो पुरुष घर में विद्यमान भी भोग और उपभोग की वस्तु का परित्याग करता है, उसके व्रत की देवेन्द्र भी स्तुति-प्रशंसा करते हैं। और जो मन के लड्डू खाता है, उसका व्रत अल्प सिद्धि का करने वाला होता है॥५०॥

सामाइयस्य करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
मण-वयण-कायसुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेय॥५१॥

अर्थ – अब शिक्षाव्रत का वर्णन करते हुए उसके चार भेदों में से पहले सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं – सामायिक करने के लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि; और कायशुद्धि – ये सातों ही बातें जानने के योग्य हैं॥५१॥

जत्थ ण कलयलसद्दो बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि।
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो॥५२॥

अर्थ – जहाँ पर कल-कल शब्द न होता हो, जहाँ पर बहुत जनों का जमघट या आवागमन न हो और न जहाँ पर डांस-मच्छर आदिक हों, ऐसा प्रशस्त स्थान सामायिक करने के योग्य क्षेत्र है॥५२॥

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहिवि णालिया-छक्को।
सामइयस्स कालो सविणय णिस्सेस-णिद्दिट्ठो॥५३॥

अर्थ – विनय-युक्त गणधरादि के पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न – इन तीन कालों छह-छह घड़ी काल सामायिक का कहा है॥५३॥

बंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा।
कालपमाणं किच्चा इंदियवावार-वज्जिदो होउ॥५४॥
जिणवयणेयग्गमणो संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा।
स-सरुवे संलीणो वंदण-अत्थं विचिंतंतो॥५५॥

किच्चा देसपमाणं सव्वं सावज्जवज्जिदो होउ।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे ताव॥५६॥

अर्थ – पर्यंक आसन को बांधकर, अथवा सीधा खड़ा होकर काल का प्रमाण करके, इन्द्रियों के व्यापार से रहित होकर, जिन-वचन में मन को एकाग्र करके, काय को संकोच कर, हाथ की अंजलि बाँधकर, अपने स्वरूप में लीन होकर, अथवा वन्दनापाठ के अर्थ का चिन्तवन करता हुआ, देश का प्रमाण करके और सर्व सावद्य योग को छोड़कर जो श्रावक सामायिक करता है, वह उस समय (वस्त्र-वेष्टित) मुनि के सदृश होता है॥५४-५६॥

ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थीसंसग्ग-गंध-धूवादी।
जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभूसणं किच्चा॥५७॥
दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एयमत्त-णिव्वियडी।
जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं विदियं॥५८॥

अर्थ – अब दूसरे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं– जो ज्ञानी श्रावक सदा ही अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनों पर्वों में स्नान विलेपन भूषण स्त्री-संसर्ग, गंध, धूप आदि का परिहार करता है और वैराग्यरूप आभूषण धारण करके उपवास, एकासन, अथवा निर्विकार नीरस भोजन आदि को करता है, उसके प्रोषधोपवास नाम का दूसरा शिक्षाव्रत होता है॥५७-५८॥

तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहिं संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं णवदाणविहीहि संजुत्तो॥५९॥
सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्वसिद्धिसोक्खयरं।
दाणं चउव्विहं पिय सव्वेदाणाण सारयरं॥६०॥

अर्थ – अब तीसरे अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं – जो श्रद्धा आदि गुणों से संयुक्त ज्ञानी पुरुष सदा तीन प्रकार के पात्रों

को नौ प्रकार की दानविधि से अर्थात् नवधाभक्ति से संयुक्त होकर स्वयं दान देता है, उसके यह तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में सारभूत है और सब सुखों का तथा सिद्धियों का करने वाला है ॥५९-६०॥

भोयणदाणं सोक्खं ओसहदाणेण सत्थदाणं च।
जीवाण अभयदाणं सुदुल्लहं सव्वदाणेसु॥६१॥

अर्थ – औषधिदान के साथ भोजनदान से सुख प्राप्त होता है। शास्त्रदान और जीवों को अभयदान देना सर्व दानों में अति दुर्लभ है॥६१॥

भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं॥६२॥

अर्थ – भोजनदान के देने पर शेष तीनों ही दान दिये गये होते हैं, क्योंकि प्राणियों को भूख और प्यास की व्याधि दिन-प्रतिदिन होती है॥६२॥

भोयणबलेण साहू सत्यं सेवेदि रत्ति-दिवसं पि।
भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति॥६३॥

अर्थ – भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है और भोजन दान के देने पर प्राण भी सुरक्षित रहते हैं॥६३॥

इह-परलोयणिरीहो दाणं जो देदि परमभत्तीए।
रयणत्तए सुठविदो संधो सयलो हवे तेण॥६४॥
उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीएँ उत्तमं दाणं।
एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तमं देदि॥६५॥

अर्थ – जो पुरुष इस लोक और परलोक के फल की इच्छा से रहित होकर परम भक्ति से दान देता है, वह सर्व संघ को रत्नत्रय धर्म

में स्थापित करता है। उत्तम पात्रविशेष को उत्तम भक्ति से एक दिन भी दिया गया उत्तम दान इन्द्रलोक के सुख को देता है ॥६४-६५॥

पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसाणं पुणो वि संवरणं।
इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥६६॥
वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोह-कामसमणट्ठं।
सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥६७॥

अर्थ – अब, चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रत को कहते हैं – जो पुरुष लोभ और काम विकार के शमन करने के लिए तथा पापों के छोड़ने के लिए वर्ष आदि का प्रमाण करके पूर्व में किये हुए सर्व दिशाओं के प्रमाण को फिर भी संवरण करता है और इन्द्रियों के भोग उपभोगरूप विषयों का फिर भी दिन-दिन संवरण करता है, उसके यह देशावकाशिक नाम का चौथा शिक्षाव्रत होता है ॥६६-६७॥

बारस-वएहिं जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो।
सो सुरसोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥६८॥

अर्थ – जो श्रावक बारह व्रतों को पालता हुआ जीवन के अन्त में कषायों को उपशान्त करता हुआ सल्लेखना करता है, वह स्वर्ग के सुख को पाकर के क्रम से मोक्ष के परम सुख को प्राप्त करता है ॥६८॥

एक्कं पि वयं विमलं सद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो।
दो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्तं पावए णियमा ॥६९॥

अर्थ – जो सम्यग्दृष्टि पुरुष दृढ़चित्त होकर यदि एक भी व्रत को निरतिचार निर्मल पालन करता है, तो वह भी नियम से अनेक प्रकार की ऋद्धियों से युक्त इन्द्रपद को पाता है ॥६९॥

जो कुणदि काउस्सग्गं बारस-आवत्त-संजुदो धीरो।
णमणदुगं पि कुणंतो चदुप्पणामो पसण्णप्पा ॥७०॥

चिंतंतो ससरूवं जिणबिंबं अह व अक्खरं परमं।
झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं ॥७१॥

अर्थ – अब सामायिक प्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो धीर-वीर श्रावक बारह आवर्त-सहित चार प्रणाम और दो नमस्कारों को करता हुआ प्रसन्नचित्त होकर कायोत्सर्ग करता है और उस समय अपने स्वरूप का, जिन-प्रतिबिम्ब का अथवा परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मों के विपाक (फल) का चिन्तवन करता हुआ ध्यान करता है, उसके सामायिक प्रतिमारूप व्रत होता है ॥७०-७१॥

सत्तमि-तेरसि-दिवसे अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे।
किच्चा किरियाकम्मं उववासं चउविहं गहियं ॥७२॥
गिहवावारं चत्ता रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए।
पच्चूसे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण ॥७३॥
सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा।
रत्तिं णेदूण तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा ॥७४॥
पुज्जणविहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि तिविहंपि।
भुंजाविऊण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि ॥७५॥

अर्थ – अब प्रोषधप्रतिमा का वर्णन करते हैं – सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न के समय जिन-मन्दिर में जाकर आवश्यक क्रिया कर्म करके चार प्रकार का आहार त्याग कर उपवास को ग्रहण करे और घर के सब व्यापार-कार्यों को छोड़कर धर्मध्यानपूर्वक रात बितावें। पुनः प्रातःकाल उठकर और क्रिया कर्म को करके शास्त्राभ्यास के साथ दिन बिताकर सामायिक-वन्दनादि करो, पुनः धर्मध्यानपूर्वक रात बिताकर उषाकाल में सामायिक-वन्दनादि करके, पूजन-विधान भी करके और यथावसर प्राप्त तीनों प्रकार के पात्रों को पड़गाह करके उन्हें

भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करने वाले श्रावक को प्रोषधप्रतिमारूप व्रत होता है ॥७२-७५॥

एक्कं पि णिरारंभो उववासं जो करेदि उवसंतो।
बहुभवसंचियकम्मं सो णाणी खवदि लीलाए ॥७६॥

अर्थ – जो ज्ञानी उपशम भाव को धारण करता हुआ आरम्भ-रहित एक भी उपवास को करता है, वह बहुत भवों के संचित कर्म को लीलामात्र से क्षय कर देता है ॥७६॥

उववासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णियदेहं सोसदि ण झाडए कम्मलेसं पि ॥७७॥

अर्थ – किन्तु जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भिक कार्य करता है, वह केवल अपनी देह को सुखाता है, पर लेशमात्र भी कर्म की वह निर्जरा नहीं करता ॥७७॥

सच्चित्तं पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरदो हवे सोंदु ॥७८॥

जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जदो को वि ॥७९॥

अर्थ – अब सचित्त त्याग प्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो ज्ञानी पुरुष सचित्त पत्र, सचित्त फल, सचित्त छाल, सचित्त मूल, सचित्त कोंपल और सचित्त बीज को नहीं खाता है, वह सचित्त विरत प्रतिमाधारी श्रावक है। जो पुरुष जिस सचित्त वस्तु को स्वयं नहीं खाता है, उसे दूसरे को खाने के लिए देना योग्य नहीं है; क्योंकि खाने और खिलाने में कोई अन्तर नहीं है ॥७८-७९॥

जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय जीहा विणिज्जिया तेण।
दयभावो होदि कओ जिणवयणं पालियं तेण ॥८०॥

अर्थ – जिस पुरुष ने सचित्त वस्तु के खाने का त्याग कर दिया है, उसने अपनी दुर्जय जिह्वा को जीत लिया है। उसने दयाभाव भी प्रकट किया और जिनेन्द्र देव के वचनों का भी पालन किया है ॥८०॥

जो चउविहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी।
ण य भुंजावदि अण्णं णिसिविरओ सो हवे भोज्जो ॥८१॥

अर्थ – अब रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो ज्ञानी पुरुष खाद्य (दाल-भात आदि), स्वाद्य (मिठाई आदि), लेह्य (अवलेह चटनी आदि) और पेय (पानी दूध आदि) इन चारों ही प्रकार के भोजन को रात्रि में न स्वयं खाता है और न दूसरों को खिलाता है, वह रात्रिभोजनविरतप्रतिमाधारी श्रावक है ॥८१॥

जो णिसिभुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि रयणीए ॥८२॥

अर्थ – जो पुरुष रात्रि-भोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छह मास उपवास करता है क्योंकि वह रात्रि में आरम्भ का त्याग करता है ॥८२॥

सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी।
मण-वाया-काएण य बंभवई सो हवे सदओ ॥८३॥

अर्थ – अब ब्रह्मचर्य प्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो ज्ञानी श्रावक मन, वचन और काय से सभी प्रकार की स्त्रियों की अभिलाषा नहीं करता, वह दयालु ब्रह्मचर्यव्रत का धारक है ॥८३॥

जो कय-कारय-मोयण-मण-वय-काएण मेहुणं चयदि।
बंभपवज्जारूढो बंभवई सो हवे सदओ ॥८४॥

अर्थ – जो कृत-कारित-अनुमोदना, मन-वचन और काय से मैथुन-सेवन छोड़ता है, वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यप्रतिमारूढ़ दयालु श्रावक है ॥८४॥

भावार्थ – उक्त दोनों ही गाथाओं में 'सदय' पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय यह है कि स्त्री का सेवन करनेवाला पुरुष स्त्री की योनि में उत्पन्न होनेवाले असंख्य सूक्ष्म त्रस-जन्तुओं का घात करता है और स्त्री-सेवन का त्यागी उनकी रक्षा करता है, अतः वह दयालु है।

जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे।
हिंसासंतट्ठमणो चत्तारंभो हवे सो हु॥८५॥

अर्थ – अब आरम्भत्याग प्रतिमा का वर्णन करते हैं–हिंसा से दुखित मनवाला जो श्रावक कृषि, व्यापारादि आरम्भ कार्य को न स्वयं करता है, न औरों से कराता है और न आरम्भ करनेवालों की अनुमोदना ही करता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है॥८५॥

जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी॥८६॥

अर्थ – अब परिग्रहत्यागप्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो ज्ञानी पुरुष बाहिरी और भीतरी परिग्रह को पाप मानता हुआ प्रसन्नता पूर्वक उसे छोड़ता है, वह निर्ग्रन्थ परिग्रह-त्यागी है॥८६॥

बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुवा सहावदो होंति।
अब्भंतरगंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं॥८७॥

अर्थ – क्योंकि दरिद्र मनुष्य तो स्वभाव से ही बाहरी परिग्रह से रहित होते हैं, किन्तु भीतरी परिग्रह को छोड़ने के लिए कोई भी समर्थ नहीं होता॥८७॥

जो अणुमणण ण कुणदि गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु।
भवियव्वं भावंतो अणुमणविरओ हवे सो दु॥८८॥

अर्थ – अब अनुमतित्याग प्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो पुरुष पापमूलक गृहस्थी के कार्यों की अनुमोदना नहीं करता है, किन्तु पुत्र-पौत्रादि का भविष्य उनके भवितव्य के अधीन है, ऐसी भावना

करता हुआ गृह-कार्यों से उदासीन रहता है, वह अनुमति विरत प्रतिमाधारी है ॥८८॥

जो पुण चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोससंजुत्तो।
उवओगेण विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥८९॥

अर्थ – जो पुरुष राग-द्वेष से संयुक्त होकर अपने उपयोग या प्रयोजन से रहित शुभ-अशुभ कार्यों का चिन्तवन करता है, वह कार्य के बिना ही पाप का संचय करता है ॥८९॥

जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार विरदो सो ॥९०॥

अर्थ – अब उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का वर्णन करते हैं – जो श्रावक (गृह-वास छोड़कर) भिक्षावृत्ति से याचना-रहित, नवकोटि से विशुद्ध योग्य आहार को खाता है, वह उद्दिष्टाहार-विरत प्रतिमा का धारक है ॥९०॥

जो सावयवयसुद्धो अंते आराहणं परं कुणदि।
सो अच्चुदम्हि सग्गे इंदो सुर-सेविदो होदि ॥९१॥

अर्थ – अब आचार्य श्रावकधर्म के वर्णन का उपसंहार करते हुए अन्तिम सल्लेखना और उसके फल का वर्णन करते हैं –

इस प्रकार जो पुरुष श्रावक के उपर्युक्त व्रतों को अतीचार-रहित शुद्ध पालन करता हुआ जीवन के अन्त में परम आराधना अर्थात् सल्लेखना को धारण कर मरण करता है, वह अच्युत स्वर्ग में देवों से सेवित इन्द्र होता है ॥९१॥

॥ इस प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-गत
श्रावक धर्म का वर्णन समाप्त हुआ ॥

ooo

श्रीमच्चामुण्डराय प्रणीत

चारित्रसार-गत श्रावकाचार

अरिहनन-रजोहनन-रहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम्।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून्॥१॥

अर्थ – मोहरूप अरि के हनन करनेवाले, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मरूप रज के विनाशक, अन्तरायरूप रहस्य के अपहारक एवं पंचकल्याणक रूप पूजाओं के योग्य – ऐसे अरहन्त भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ। सम्यक्त्व आदि आठ गुण जिन्हें सिद्ध हो गये हैं – ऐसे सिद्ध परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ और रत्नत्रय के साधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ॥१॥

श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय
लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजन्तोः।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं
स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि॥२॥

अर्थ – मैं श्री मज्जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट उस धर्म को भी मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ जो कि श्रेष्ठ मंगलरूप है, लोक में उत्तम है, विनम्र प्राणियों को शरण देने वाला है और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखरूप फल को देने वाला है॥२॥

धर्मः सर्वसुखाकारो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय॥३॥

अर्थ – धर्म सर्व सुखों का भण्डार है, जगत् का हितकारी है, उस धर्म को ज्ञानीजन संचय करते हैं, धर्म के द्वारा ही शिव का सुख प्राप्त

होता है, ऐसे धर्म के लिए मेरा नमस्कार हो। संसारी प्राणियों का धर्म से अन्य कोई मित्र नहीं है, धर्म का मूल दया है, ऐसे धर्म में मैं प्रतिदिन अपने चित्त को लगाता हूँ। हे धर्म! मेरी पालना करो ॥३॥

सम्यक्त्व-पञ्चाणुव्रतवर्णनम् –

सम्यग्दृष्टीनां चत्वारो वन्दना प्रधानभूताः–अर्हन्तः सिद्धाः साधवो धर्मश्चेति। तत्रार्हत्सिद्धसाधवो नमस्कारेणोक्ताः। धर्म उच्यते–आत्मानमिष्टनरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रमुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः, अथवा संसारस्थान् प्राणिनो धरते धारयतीति वा धर्मः। स च सागारानगार-विषयभेदाद् द्विविधः। तत्र सागारधर्म उच्यते–

अर्थ – अब सम्यग्दर्शन और पंच अणुव्रतों का वर्णन करते हैं – सम्यग्दृष्टि जीवों के लिए अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म – ये चार वन्दना में प्रधानभूत हैं। उनमें अरहन्त, सिद्ध और साधुओं का स्वरूप नमस्कार पद्यों के द्वारा कह दिया गया है। अब धर्म का स्वरूप कहते हैं– जो आत्मा को अभीष्ट नरेन्द्र-सुरेन्द्र, तीर्थंकर पद और मुक्तिस्थान में धारण करे, वह धर्म है। अथवा संसार में स्थित प्राणियों को जो धारण करता है, वह धर्म है। वह सागार (श्रावक) और अनगार (मुनि) के भेद से दो प्रकार का है।

उसमें से सागारधर्म को कहते हैं –

दार्शनिक-व्रतिकावपि सामायिकः प्रोषधोपवासश्च।
सचित्तरात्रिभुक्तिव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥४॥
आरम्भाद् विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतस्तथोद्दिष्टः।
इत्येकादश निलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥५॥

अर्थ – दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तभुक्ति-विरत, रात्रिभुक्तिव्रत-निरत, ब्रह्मचारी, आरम्भ-निवृत्त, परिग्रह-निवृत्त, अनुमति-निवृत्त और उद्दिष्ट-निवृत्त – ये ग्यारह स्थान वाले श्रावक जिन भगवान ने क्रम से कहे हैं ॥४-५॥

व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति। तत्र दार्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्चगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति। जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तस्य सम्यग्दर्शनस्य मोक्षपुरपथिकपाथेयस्य मुक्तिसुन्दरीविलासमणिदर्पणस्य संसारसमुद्रगर्तावर्तभग्नजनदत्तहस्तावलम्बनस्यैकादशोपासक-स्थानप्रासादाधिष्ठानस्योत्तमक्षमादिदशकुलधर्मकल्पपादपमूलस्य परमपावनस्य सकलमङ्गलनिलयस्य मोक्षमुख्यकारणस्याष्टाङ्गानि भवन्ति - निःशङ्कितत्त्वं निःकांक्षता निर्विचिकित्सता अमूढदृष्टित्वं उपवृंहणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चेति।

तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणं अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिक इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता, अथवाऽर्हदुपदिष्टद्वादशाङ्ग-प्रवचनगहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम्। ऐहलौकिकपारलौकिकेन्द्रियविषयोपभोगाकांक्षा-निवृत्तिः, कुदृष्ट्यन्तराकांक्षानिरासो वा निःकांक्षता। शरीराद्यशुचित्व-भावमवगम्य शुचीति मिथ्यासङ्कल्पापनयोऽथवाऽर्हत्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनानिरासो विचिकित्साविरहः। बहुविधेषु दुर्णयवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावमध्यवस्य परीक्षाचक्षुषा विरहितमोहममूढदृष्टित्वम्। उत्तमक्षमादिभावनयाऽऽत्मन आत्मीयस्य च धर्मपरिवृद्धि-करणमुपवृंहणम्। कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषूपस्थितेषु स्वपरयोर्धर्मप्रच्यवनपरिपालनं स्थितिकरणम्। जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागताऽथवा सद्यःप्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रय-प्रभावादात्मनः प्रकाशनमथवा ज्ञानतपःपूजासु ज्ञानदिनकरकिरणैः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च, महोपवासादिलक्षणेन

देवेन्द्रविष्टरप्रकम्पनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमयप्रकटनं च, महापूजामहादानाभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना। एवंविधाष्टाङ्गविशिष्टं सम्यक्त्वम्। तद्विकयोरणुव्रतमहाव्रतयोर्नामापि न स्यात्। सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च।

सम्यक्त्वमङ्गहीनं राज्यमिव श्रेयसे भवेन्नैव।
न्यूनाक्षरो हि मन्त्रो नालं विषवेदनोच्छित्त्यै ॥६॥

अर्थ – व्रतप्रतिमा आदि के गुण दर्शनप्रतिमा आदि पूर्व गुणों के साथ क्रम से बढ़ते हुए होते हैं अर्थात् उत्तर प्रतिमाधारी श्रावक के लिए पूर्व प्रतिमाओं के गुण अधिक विशुद्धि के साथ धारण करना आवश्यक है। इनमें से प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक है, जो कि संसार और इन्द्रिय-भोगों से विरक्त होता है, पंच परम गुरु के चरणों का भक्त होता है और सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता है। जिनेन्द्र भगवान् अरहन्त परमेष्ठी से उपदिष्ट वीतराग स्वरूप मोक्षमार्ग में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन मोक्षपुर को जानेवाले पथिक के लिए मार्ग का भोजन है, मुक्ति-सुन्दरी के शृंगार-विलास के लिए मणि के दर्पण समान है, संसार-सागर के गड्ढे की भँवर में निमग्न जन को हाथ का अवलम्बन देने वाला है, उपासकों के ग्यारह खण्ड वाले भवन का आधारभूत अधिष्ठान है, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के कुल धर्मरूपी कल्पवृक्ष का मूल है, परम पवित्र है, सर्व मंगलों का आश्रय है और मोक्ष का प्रधान कारण है।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं – निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

अब इन अंगों का क्रम से स्वरूप कहते हैं – इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, अत्राणभय और आकस्मिकभय – इन सातों प्रकार के भयों से रहित होना निःशंकित अंग है। अथवा अरहन्त भगवान् के द्वारा उपदिष्ट और अत्यन्त गहन ऐसे

द्वादशांगरूप प्रवचन में 'यह एक अक्षर अथवा पद क्या जिनोक्त है या नहीं' - ऐसे शंका का न होना निःशंकित अंग है।

इस लोक और परलोक में इन्द्रिय के विषय-सम्बन्धी उपभोग की आकांक्षा न करना, अथवा मिथ्यादृष्टि होने की आकांक्षा नहीं करना निःकांक्षित अंग है।

शरीर आदि के अपवित्रपने को जानकर 'यह शरीर पवित्र है' - ऐसे मिथ्या संकल्प को दूर करना अथवा अर्हत्प्रवचन में 'यदि यह घोर कष्ट वाला अयुक्त कथन न होता, तो सर्व ठीक था, ऐसी अशुभ भावना का दूर करना निर्विचिकित्सा अंग है।

तत्त्व से रहित होने पर भी तत्त्व के समान प्रतिभासित होने वाले अनेक प्रकार के दुर्नयरूप मिथ्यामार्गों में परीक्षारूप नेत्रों के द्वारा युक्ति के अभाव को जानकर मोहरहित होना अमूढ़दृष्टि अंग है।

उत्तम क्षमादि धर्मों की भावना से अपने और अपने परिजनों के धर्म की तृप्ति करना उपवृंहण अंग है।

कषायोदय आदिक धर्म-भ्रष्ट करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर अपनी और अन्य की धर्मभ्रष्ट होने से रक्षा करना स्थितिकरण अंग है।

जिन-प्रणीत धर्मामृत में नित्य अनुराग करना, अथवा जैसे - सद्यःप्रसूता गौ अपने बछड़े को अत्यन्त स्नेह करती है, उसी प्रकार चार प्रकार के संघ पर अकृत्रिम स्नेह करना वात्सल्य अंग है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीनों के प्रभाव से आत्मा का प्रभाव प्रकाशित करना, प्रभावना अंग है।

अथवा ज्ञानाभ्यास, तपश्चरण और पूजा-विधानों के समय ज्ञानरूप सूर्य की किरणों के द्वारा परमतरूपी खद्योतों के प्रकाश का आवरण करना, देवेन्द्रों के सिंहासनों को कम्पित करने में समर्थ महोपवास आदि स्वरूपवाले उत्तम तपश्चरण के द्वारा अपने शासन का प्रभाव प्रकट

करना, और महापूजा, महादान आदि कार्यों के द्वारा धर्म का प्रकाश करना प्रभावना अंग है।

इस प्रकार के आठ अंगों से विशिष्ट सम्यग्दर्शन पहली प्रतिमाधारी के होता है। सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष के अणुव्रत और महाव्रत का नाम तक भी नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत-युक्त हों तो स्वर्ग के लिए कारण है और महाव्रत-युक्त हो तो मोक्ष के लिए कारण है। जिस प्रकार सेना आदि अंगों से रहित राज्य कल्याणकारी नहीं होता है, उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगों से हीन सम्यग्दर्शन भी कल्याणकारी नहीं होता है; क्योंकि एक अक्षर से भी न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर करने के लिए समर्थ नहीं होता है॥६॥

सम्यक्त्वस्य गुणाः –

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती।
अनुकम्पा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य॥७॥

अर्थ – अब सम्यग्दर्शन के गुण कहते हैं – संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य – ये सम्यक्त्वयुक्त पुरुष के आठ गुण हैं॥७॥

उक्तं चाबद्धायुष्कविषये –

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥८॥

अर्थ – जिसके आगमी भव की आयु नहीं बँधी है – ऐसे अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि के विषय में कहा है – सम्यग्दर्शन से शुद्ध अव्रती भी पुरुष मरकर नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री नहीं होते तथा वे दुष्कुल, विकल-अंग, अल्प आयु और दरिद्रता को भी प्राप्त नहीं होते हैं॥८॥

भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपयायिनः।
चारित्रयानपात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनम्॥९॥

अर्थ – संसाररूप समुद्र में चारित्ररूप जहाज पर सवार होकर निर्वाणरूप द्वीप को जाने वाले भव्य जीवरूप सार्थवाह का सम्यग्दर्शन कर्णधार [खेवटिया] है ॥९॥

दार्शनिकस्य कस्यचित्कदाचिद्दर्शनमोहोदयादतीचाराः पञ्च भवन्ति – शङ्काकांक्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा इति। तत्र मनसा मिथ्यादृष्टे ज्ञानिचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, वचसा भूताभूतगुणोद्भावनं संस्तवः, एवं प्रशंसासंस्तवयोर्मानसकृतो वाक्कृतश्च भेदः। शेषाः सुगमाः। सम्यग्दर्शनसामान्यादणु-व्रतिकमहाव्रतिनोरिमेऽतीचाराः।

व्रतिको निःशल्यः पञ्चाणुव्रत-रात्रिभोजनविरमण शीलकसप्तकं निरतिचारेण यः पालयति स भवति। तत्र यथा शरीरानुप्रवेशिकाण्डकुन्तादिप्रहरणं शरीरिणां बाधाकरम्, तथा कर्मोदयविकारे शरीरमानसबाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यम्। तत्त्रिविधम् – मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात्। माया वंचनम्। निदानं विषयभोगाकांक्षा। मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। उत्तरत्र वक्ष्यमाणेन महाव्रतिनापि शल्यत्रयं परिहर्तव्यम्।

अभिसन्धिकृतो नियमो व्रतमित्युच्यते, सर्वसावद्य-निवृत्त्यसंभवादणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां जंगमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च निवृत्तः आगारीत्याद्यणुव्रतम्। तस्य प्रमत्तयोगात्प्राणाव्यपरोपणलक्षणस्य पञ्चातिचारा भवन्ति– बन्धो वधः छेदः अतिभारारोपणं अन्नपाननिरोधश्चेति। तत्राभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्धः। दण्डकशावेत्रादिभिः प्राणिनामभिघातो वधः। कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः। न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनमतिलोभाद् गवादीनामतिभारारोपणम्। तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात्

क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इति।

स्नेहस्य मोहस्य द्वेषस्य वोद्रेकाद्यदसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। तस्य व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति मिथ्योपदेशः रहोऽभ्याख्यानं कूटलेखक्रिया न्यासापहारः साकारमन्त्रभेदश्चेति। तत्राभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमभिसन्धानं वा मिथ्योपदेशः। स्त्रीपुरुषाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम्। अन्येनानुक्तं यत्किञ्चित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया। हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्य अल्पसंख्यानमाददानस्य 'एवं' इत्यनुज्ञावचनं न्यासापहारः। अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूक्षेपादिभिः परा-कूतमुपलभ्य यदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं तत्साकारमन्त्रभेद इति।

अन्यपीडाकरं पार्थिवादिभयादवशपरित्यक्तं वा निहितं पतितं विस्मृतं वा यददत्तं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्। अदत्तादानविरतेः पञ्चातिचारा भवन्ति – स्तेनप्रयोगः तदाहृतादानं विरुद्धराज्यातिक्रमः हीनाधिकमानोन्मानं प्रतिरूपकव्यवहारश्चेति। मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनम्– मुष्णन्तं स्वयमेव प्रयुंक्ते, अन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यः सः स्तेनप्रयोगः। अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम्। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यम्। उचितन्यायादन्येन प्रकारेणादानं ग्रहणमतिक्रमः। तस्मिन् विरुद्धराज्ये योऽसावतिक्रमः स विरुद्धराज्यातिक्रमः। प्रस्थादि मानं तुलाद्युन्मानम्। एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मना ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम्। कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति।

उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरति-र्विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्। स्वदारसन्तोषव्रतस्यातीचाराः पञ्च

भवन्ति – परविवाहकरणं इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमनं इत्वरिका-परिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशश्चेति। तत्र सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद्विवहनं विवाहः परस्य विवाहकरणं पर विवाहकरणम्। ज्ञानावरणक्षयोपशमादापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च पर-पुरुषानेतीति इत्वरिका या गणिकात्वेन वा पुंश्चलित्वेन वा परपुरुष-गमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिका-ऽपरिगृहीता गमनम्। या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिकापरिगृहीतागमनम्। अंङ्गं प्रजजनं योनिश्च तत्तो जघनादन्यत्रानेकविधप्रजननविकारेण रतिरनङ्गक्रीडा कामस्य प्रवृद्धःपरिणामोऽनुपरतवृत्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इति।

धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम्। परिग्रह-विरमणव्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति-क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्यमिति। तत्र क्षेत्रं शस्याधिकरणम्, वास्तु आगारम्, हिरण्यं रूप्यादिव्यवहार-प्रयोजनम्, सुवर्ण विख्यातम्, धनं गवादि, धान्यं ब्रीह्यादि, दासी-दासं भृत्यस्त्रीपुरुषवर्गः, कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि। एतेषु एतावानेव परिग्रहो मम, नातोऽन्यस्य इति परिच्छिन्नप्रमाणात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेकोऽतिलोभवशात्प्रमाणातिरेक इति।

रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम्।
पञ्चधाऽणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥१०॥

॥इत्यणुव्रतवर्णनम्॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन के धारक किसी जीव के कदाचित् दर्शनमोह

के उदय से ये पाँच अतिचार होते हैं – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव। मन से मिथ्यादृष्टि पुरुष के ज्ञान और चारित्रगुण का प्रकट करना प्रशंसा है और वचन से उसमें विद्यमान और अविद्यमान गुणों का कहना संस्तव है। इस प्रकार प्रशंसा और संस्तव में मन:कृत और वचनकृत भेद है। शेष तीन अतिचार सुगम हैं।

सम्यग्दर्शन की समानता से ये पाँचों ही अतिचार अणुव्रती और महाव्रती दोनों के होते हैं। जो शल्यरहित होकर पाँच अणुव्रत, रात्रि-भोजन त्याग और तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलों को अतिचार-रहित पालन करता है, वह दूसरी प्रतिमाधारी व्रतिक श्रावक है। शल्य नाम बाण का है। जैसे शरीर में प्रविष्ट बाण, भाला आदि शस्त्र जीवों को बाधा करता है, उसी प्रकार कर्मोदय के विकार में जो शल्य के समान शरीर और मन में बाधा का कारण हो, उसे शल्य कहते हैं। वह शल्य माया निदान और मिथ्यादर्शन के भेद से तीन प्रकार की है। दूसरे को ठगना माया है। विषय-भोगों की आकांक्षा करना निदान है। अतत्त्वों का श्रद्धान करना और तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है।

श्रावक को और आगे कहे जाने वाले महाव्रती को भी तीनों शल्यों का त्याग करना चाहिए। अभिप्रायपूर्वक नियम करना व्रत कहलाता है। गृहस्थ के सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति असंभव है, अत: जो प्रमत्तयोग से द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणियों के प्राण-घात से मन-वचन-काय द्वारा निवृत्त होता है, वह गृहस्थ प्रथम अहिंसाणुव्रत का धारक है। प्रमत्तयोग से प्राणों का अविघात लक्षणवाले इस अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्न-पाननिरोध।

अपने अभीष्ट स्थान को जाने के लिए उत्सुक पुरुष पशु आदि को उसे रोकने के निमित्त से कील, खूंटी आदि में रस्सी आदि के द्वारा बाँधना बन्ध नाम का अतिचार है।

लकड़ी चाबुक, बेंत आदि से प्राणियों को मारना वध नाम का

अतिचार है। जीवों के कान, नाक आदि अंगों का काटना छेदन नाम का अतिचार है।

अतिलोभ से बैल, घोड़े आदि पर न्याय-संगत भार से अधिक भार का लादना अतिभारारोपण नाम का अतिचार है।

किसी भी कारण से उन बैल आदि का खान-पान रोककर उन्हें भूख-प्यास की बाधा से पीड़ित करना अन्न-पाननिरोध नाम का अतिचार है।

स्नेह, मोह और द्वेष की तीव्रता से जो असत्य बोला जाता है, उसके त्याग में आदर रखना यह गृहस्थ का दूसरा सत्याणुव्रत है।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं - मिथ्योपदेश रहोऽभ्याख्यान कूटलेखक्रिया न्यासापहार और साकार मंत्रभेद।

अभ्युदय और निःश्रेयससाधक क्रिया-विशेषों में अन्य पुरुष को अन्यथा प्रवृत्ति कराना, अथवा अन्यथा अभिप्राय कहना मिथ्योपदेश है।

स्त्री-पुरुष के द्वारा एकान्त में की गई रति क्रिया आदि गुप्त बात का प्रकाशन करना रहोऽभ्याख्यान है। अन्य के द्वारा नहीं कही गई जिस किसी बात को पर के आग्रह से 'उसने ऐसा कहा है, अथवा किया है' - इस प्रकार दूसरे को ठगने के लिए झूठे लेख लिखना कूट-लेखक्रिया है।

अमानत में रखे हुए सुवर्ण आदि द्रव्य का परिमाण भूल जाने से अल्प परिमाण में माँगने पर उतने ले जाने की धरोहर रखने वाले पुरुष को स्वीकृति का वचन कहना न्यासापहार है।

किसी अर्थ के प्रकरण से, अंगविकार से अथवा भृकुटी-विक्षेप आदि से दूसरे का अभिप्राय जानकर ईर्ष्या आदि के निमित्त से उसे प्रकट करना साकारमंत्रभेद है।

राजा आदि के भय से परवश होकर छोड़े गये, रखे हुए, गिरे और भूले हुए पराये द्रव्य को बिना दिये लेना चोरी है। यह उसके स्वामी

को पीड़ा करती है। ऐसी चोरी से निवृत्त होने में आदर रखना यह श्रावक का तीसरा अचौर्याणुव्रत है।

इस अदत्तादानविरति के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार।

चोर को तीन प्रकार से प्रेरणा दी जाती है – एक तो चोर को चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरणा करता है, दूसरे अन्य किसी से प्रेरणा कराता है और तीसरे चोरी करने वाले की अनुमोदना करता है, यह सब स्तेन प्रयोग है।

जिसे चोरी के लिए प्रेरणा भी नहीं की है, ऐसे चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है।

विद्रोह या विप्लव युक्त राज्य को विरुद्ध राज्य कहते हैं। उचित न्याय मार्ग को छोड़कर अन्य प्रकार से द्रव्य का ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। इस प्रकार विरुद्ध राज्य में अतिक्रम विरुद्धराज्यातिक्रम है। (राज्य के नियमों के विरुद्ध वस्तु को लाना-ले जाना और राज्य-कर की चोरी करना भी इसी के अन्तर्गत है।)

नापने के प्रस्थ आदि को मान कहते हैं और तोलने के बाँट आदि को उन्मान कहते हैं।

कम नाप-तोल के बाँटों से दूसरों को देना और अधिक (भारी) नाप-तोल के बाँटों से स्वयं ग्रहण करना, इत्यादि छलमय कूट प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है। कृत्रिम (बनावटी या मिलावट वाले) सुवर्णादिक के द्वारा वंचनापूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। उपात्त (विवाहित) और अनुपात्त (अविवाहित) परस्त्री के संग से विरतरति होना अर्थात् उनके साथ काम सेवन नहीं करना और अपनी स्त्री में सन्तोष धारण करना यह गृहस्थ का विरताविरतरूप चौथा अणुव्रत है।

इस स्वदारसन्तोषाणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – परविवाहकरण इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन इत्वरिकापरिगृहीतागमन अनंगक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से कन्या के पाणिग्रहण को विवाह कहते हैं। अन्य पुरुष का विवाह करना परविवाहकरण नाम का अतिचार है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से प्राप्त हुए कलागुण को धारण करने से, चारित्रमोह-गत स्त्रीवेद के उदय-प्रकर्ष से और अंगोपांग नाम कर्म के उदय के साहाय्य से जो पर-पुरुषों के समीप जाती है, उसे इत्वरिका कहते हैं।

वेश्या होने से अथवा व्यभिचारिणी होने से पर-पुरुषों के पास जानेवाली पति-रहित स्त्री को इत्वरिका अपरिगृहीता कहते हैं। उसमें गमन करना इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन है। जिस स्त्री का एक पुरुष स्वामी है, परिगृहीता कहलाती है। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री में गमन करना इत्वरिका परिगृहीता गमन है। कामसेवन के अंग प्रजनन (लिंग) और योनि हैं। उनसे अतिरिक्त अन्य स्थानों में अनेक प्रकार के प्रजनन विकारों से रति करना अनंगक्रीड़ा कहलाती है। कामसेवन के अति बढ़े हुए परिणाम को और निरन्तर कामसेवन में लगे रहने को कामतीव्राभिनिवेश कहते हैं।

धने-धान्य क्षेत्र आदि परिग्रह का इच्छा के वश से परिमाण करना यह गृहस्थ का पाँचवाँ अणुव्रत है। इस परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य। धान्य की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र कहते हैं। रहने के घर को वास्तु कहते हैं। चाँदी के रुपया आदि सिक्के जिनसे लेन-देन का व्यवहार चलता है, हिरण्य कहलाते हैं। सुवर्ण तो प्रसिद्ध ही है। गाय-भैंस आदि पशुओं को धन कहते हैं। गेहूँ, चावल आदि को धान्य कहते हैं। सेविका स्त्री को दासी, और सेवक पुरुष को दास कहते हैं। वस्त्र, कपास, कोशा, चन्दन, बर्तन आदि को कुप्य कहते हैं। इन पाँचों प्रकार

के पदार्थों में 'इतना ही मेरे परिग्रह है, इससे अधिक या अन्य वस्तु का नहीं' इस प्रकार क्षेत्र-वास्तु आदि विषयक स्वीकृत प्रमाण से लोभवश अधिक रखकर ग्रहण किये गये परिमाण का उल्लंघन करना परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार हैं।

प्राणियों पर अनुकम्पा के भाव से रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकार के आहार करने का त्याग करना सो रात्रिभोजनविरमण नाम का छठा अणुव्रत है। जैसा कि कहा है-स्थूल हिंसा से, असत्य से, काम सेवन से और परिग्रह से निवृत्त होना यह पाँच प्रकार का अणुव्रत है और रात्रि में भोजन नहीं करना यह छठा अणुव्रत है॥१०॥

इस प्रकार अणुव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ।

शीलसप्तकवर्णनम्

स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रतविशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्च।

अर्थ – अब तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलव्रतों का वर्णन करते हैं – स्थायी विरतिभाव को स्वीकार करनेवाले श्रावक के तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप जो व्रतविशेष धारण किये जाते हैं, उन्हें शीलसप्तक कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं – दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति (ये तीन गुणव्रत हैं); सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत (ये चार शिक्षाव्रत) हैं।

तत्र प्राची अपाची उदीची प्रतीची ऊर्ध्वं अधो विदिशश्चेति। तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैश्च। ताश्च दुष्परिहारैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला अतस्ततो बहिर्न यास्यामीति निवृत्तिर्दिग्विरतिः। निरवशेषतो निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या

प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणनिमित्तं यात्रा भवतु, मा वा, सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमिताद्दिगवधेर्बहिर्न यास्यामीति प्रणिधानादहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिगणितादि्दगवधे-र्बहिर्मनोवाक्काययोगै: कृतकारितानुमतविकल्पैर्हिंसादि-सर्वपापनिवृत्तिरिति महाव्रतं भवति।

अर्थ – इनमें से पहले दिग्विरति व्रत का वर्णन करते हैं–पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और चारों (ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य) विदिशाएँ, इन दशों दिशाओं का योजनादिक से अथवा पर्वत नदी आदि प्रसिद्ध चिह्नों से जीवन–पर्यन्त के लिए परिमाण कर और यह विचार कर कि 'ये सब दिशाएँ जिनका परिहार करना दु:साध्य है, ऐसे छोटे सूक्ष्म जन्तुओं से भरी हुई हैं, अत: इस ग्रहण की गई सीमा से बाहर मैं नहीं जाऊँगा' ऐसा नियम कर दिशाओं की निवृत्ति करने को दिग्विरतिव्रत कहते हैं। पूर्णरूप से हिंसादि पापों की निवृत्ति करने के लिए असमर्थ गृहस्थ के शक्ति के अनुसार प्राणिघात–त्याग के प्रति उद्यत होने पर प्राणों की रक्षा के लिए यात्रा अर्थात् जीवन–निर्वाह हो, अथवा मत होवे, भारी प्रयोजन के आ जाने पर भी मैं परिमाण की गई दिशाओं की मर्यादा से बाहर नहीं जाऊँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा से अहिंसादि अणुव्रतधारी भी इस श्रावक के परिगणित दिशाओं की मर्यादा से बाहिर मन–वचन–काय से और कृत–कारित–अनुमोदन से हिंसादि समस्त पापों की पूर्ण निवृत्ति होती है, अत: वहाँ की अपेक्षा उसके अणुव्रत भी महाव्रत कहलाते हैं।

दिग्विरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति – ऊर्ध्वातिक्रम: अधोऽतिक्रम: तिर्यगतिक्रम: क्षेत्रवृद्धि: स्मृत्यन्तराधानं चेति। तत्र पर्वतमरुद्भूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रम:। कूपावतरणादिरधो-ऽतिक्रम:। भूमिबिलगिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतिक्रम:। प्राग्दिशो योजनादिभि: परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकांक्षणं क्षेत्रवृद्धि:।

इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। दिग्विरमणव्रतस्य प्रमादान्मोहाद् व्यासङ्गादतीचारा भवन्ति।

अर्थ – इस दिग्विरमण व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान। पर्वत और मरुद्भूमि (आकाश) आदि ऊर्ध्व प्रदेशों के आरोहण से ऊर्ध्व-दिशा की सीमा का उल्लंघन करना ऊर्ध्वातिक्रम है। कूप-बावड़ी आदि अधोभाग में उतरने से सीमा का उल्लंघन करना अधोऽतिक्रम है। भूमि के बिल और पर्वत की कन्दरा आदि में प्रवेश करने से (तथा पूर्वादि दिशाओं की सीमित मर्यादा से बाहर जाने से) तिरछी मर्यादा का उल्लंघन करना तिर्यगतिक्रम है। पहले जो दिशाओं की योजनादि के द्वारा परिमाण लिया था, पुनः लोभ के वश से उससे अधिक की आकांक्षा करना क्षेत्रवृद्धि है। मैंने योजनादिकों के द्वारा अमुक-अमुक दिशा में इतना-इतना परिमाण किया है, उस मर्यादा का विस्मरण हो जाना स्मृत्यन्तराधान है। दिग्विरमण व्रत के ये सब अतिचार प्रमाद से, मोह से अथवा चित्त के अन्यत्र लगने से होते हैं।

मदीयस्य गृहान्तरस्य तडागस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तरं न गमिष्यामीति तन्निवृत्तिर्देशविरतिः। प्रयोजनमपि दिग्विरतिवद्देशविरतिव्रतस्य। तस्य पञ्चातिचारा भवन्ति- आनयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इति। तत्रात्मना सङ्कल्पितदेशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यत्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनमानयनम्। परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वाऽन्यप्रेष्यप्रयोगेनैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। व्यापारकरान् पुरुषानुद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्तीति स्वाङ्गदर्शनं रूपानुपातः। कर्मकरानुद्दिश्य लोष्ठपाषाणादिनिपातः पुद्गलक्षेप इति। दिग्विरतिः सार्वकालिकी। देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति।

अर्थ – मैं अपने-अपने घर के मध्य भाग को, अथवा तालाब (उद्यान आदि) के मध्य भाग को छोड़कर (इतने समय तक) इससे बाहर अन्य देश में नहीं जाऊँगा, इस प्रकार की देश-निवृत्ति को देशविरतिव्रत कहते हैं। इस देशविरतिव्रत का प्रयोजन भी दिग्विरतिव्रत के समान जानना चाहिए। इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप। अपने द्वारा संकल्पित देश में अवस्थित रहते हुए भी प्रयोजन के वश से (मर्यादा के बाहर से) 'तुम यह वस्तु ले आओ' इस प्रकार की आज्ञा देकर वस्तु को मँगाना आनयन अतिचार है। सीमित देश से बाहर स्वयं नहीं जाकर किसी अन्य को भेजकर ही अपना अभीष्ट व्यापार साधन करना प्रेष्यप्रयोग है। सीमित क्षेत्र से बाहर कार्य करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके खाँसना, चुटकी आदि बजाना शब्दानुपात है। सीमा से बाहर कार्य करने वाले लोग मेरे रूप को देखकर मेरे कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर देंगे, इस अभिप्राय से अपने अंग को दिखाना रूपानुपात है। सीमा बाहर काम करने वालों को लक्ष्य करके लोष्ठ-पाषाण आदि को फेंक कर अपना अभिप्राय प्रकट करना पुद्गल क्षेप है। दिग्विरतिव्रत सार्वकालिक अर्थात् जीवन भर के लिए होता है और देशविरतिव्रत यथाशक्ति काल के नियम से अल्प काल के लिए होता है।

प्रयोजनं बिना पापादानहेतुरनर्थदण्डः। स च पञ्चविधः- अपध्यानं पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति। तत्र जयपराजयवधबन्धाङ्गच्छेदसर्वस्वहरणादिकं कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। पापोपदेशश्चतुर्विधः- क्लेशवणिज्या तिर्यग्वणिज्या वधकोपदेशः आरम्भकोपदेशश्चेति। तत्रास्मिन् प्रदेशे दास्यो दासाश्च सुलभास्तानमून् देशान्नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भविष्यतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीन् पशूनत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते सति भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या।

वागुरिकशौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीबलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण भूमिकुट्टनसलिलसेचनाग्नि-विध्यापनवातप्रतिघातवनस्पतिच्छेदनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्। विषशास्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। रागादिप्रवृद्धितो दुष्टकथाश्रवणश्रावणशिक्षणव्यापृति-रशुभश्रुतिरिति। एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या।

अर्थ – प्रयोजन के बिना पाप-उपार्जन के कारणों को अनर्थदण्ड कहते हैं। वह पाँच प्रकार का है – अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान और अशुभ श्रुति। अमुक की जीत और अमुक की हार कैसे हो, अमुक के वध, बन्ध और अंगों का छेदन कैसे हो, अमुक पुरुष का सर्वधनापहरण कैसे हो, इत्यादि मन से चिन्तन करना अपध्यान अनर्थदण्ड है।

पापोपदेश चार प्रकार का है – क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश।

इस प्रदेश में दासी और दास सुलभ हैं (अल्प मूल्य में मिलते हैं) इन्हें अमुक देशों में ले जाकर बेचने पर भारी धन-लाभ होगा, इस प्रकार का उपदेश देना क्लेशवाणिज्या है। गाय-भैंस आदि पशुओं को यहाँ पर खरीद कर अन्य देश में बेंचने पर भारी धन-लाभ होगा, ऐसा उपदेश देना तिर्यग्वाणिज्या है। जाल बिछाकर मृग आदि के पकड़ने वालों से यह कहना कि इस देश में मृग आदि बहुत हैं, सूकर पकड़ने वालों से यह कहना कि अमुक देश में सूकर बहुत पाये जाते हैं और पक्षी पकड़ने वालों से यह कहना कि अमुक प्रदेश में पक्षी आदि बहुत हैं, ऐसे कहने को वधकोपदेश कहते हैं।

खेती आदि का आरम्भ करने वाले किसान आदिकों से यह कहना कि भूमि इस प्रकार जोतना चाहिए, पानी इस प्रकार सींचना चाहिए, अग्नि इस प्रकार लगाना चाहिए, पवन से अन्न की उड़ावनी - इस प्रकार से करना चाहिए और पेड़ों की इस प्रकार से काट-छाँट करना चाहिए; इस प्रकार का उपदेश देना आरम्भकोपदेश कहलाता है।

इन चारों प्रकार के तथा इसी प्रकार के पाप-संयुक्त वचन कहना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। प्रयोजन के बिना ही भूमि को कूटना-खोदना, जल का सींचना, अग्नि का बुझाना, पवन का प्रतिघात करना और वनस्पति का छेदना आदि पाप कार्य करने को प्रमादाचरित कहते हैं। विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, दण्डा आदि हिंसा के उपकरण देना हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड है। राग-द्वेष आदि की वृद्धि के कारण होने से खोटी कथाओं का सुनना, सुनाना, शिक्षण देना और उनका प्रसार करना अशुभश्रुति है। इस प्रकार के अनर्थदण्ड से विरति करना चाहिए। ऐसे पाँच प्रकार के अनर्थदण्डों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है।

अनर्थदण्डविरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति- कन्दर्पः कौत्कुच्यं मौखर्यं असमीक्ष्याधिकरणं उपभोगपरिभोगानर्थक्यमिति। चारित्रमोहोदयापादिताद्रागोद्रेकाद्यो हास्यसंयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोगः सः कन्दर्पः। रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परस्मिन् दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम्। अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपनं तन्मौखर्यम्। असमीक्ष्याधिकरणं त्रिविधंमनोवाक्कायविषयभेदात्। तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्। वाग्भवं निष्प्रयोजनकथाव्याख्यानम्, परपीडाप्रधानं यत्किञ्चनवक्तृत्वं च। कायिकं प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्ताचित्तपत्रपुष्पफलच्छेदन-भेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्; अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत। इत्येवमादि तदेतत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम्। यस्य

यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ परिकल्पितौ तस्य तावानेवार्थ इत्युच्यते। ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं तदुपभोगानर्थक्यम्।

अर्थ – अनर्थदण्ड विरमणव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोग-परिभोगानर्थक्य। चारित्रमोह के उदय से होने वाले राग के उद्रेक से जो हास्यमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना, सो कन्दर्प है। दूसरे मनुष्य पर काय की खोटी चेष्टा को दिखाते हुए राग से समाविष्ट हँसी के वचन बोलना, अशिष्ट वचन बोलना अथवा दोनों ही कार्य करना कौत्कुच्य कहलाता है। अशालीनरूप से जो कुछ भी अनर्थक बहुत बकवाद करना, सो मौखर्य है। मन, वचन और काय के भेद से असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकार का है। दूसरे का अनर्थ करने वाले काव्य आदि का चिन्तवन करना मानस असमीक्ष्याधिकरण है। निष्प्रयोजन कथाओं का व्याख्यान करना अथवा अन्य को पीड़ाकारी वचन कहना वाचनिक असमीक्ष्याधिकरण है। प्रयोजन के बिना चलते हुए, खड़े हुए या बैठे-बैठे ही सचित्त-अचित्त पत्र-पुष्प-फलादि का छेदन-भेदन करना, कूटना, फेंकना आदि कार्य करना, अग्नि, विष, क्षार आदि को देने और बताने का आरम्भ करना तथा इसी प्रकार के और भी जितने अनर्थ कार्य हैं उनका करना, सो वह सर्व असमीक्ष्याधिकरण है। जिस मनुष्य का जितने धन या वस्तुओं से उपभोग-परिभोग हो सकता है, उतना वह उसके लिए 'अर्थ' कहा जाता है। उससे अधिक अन्य का संग्रह करना यह उसका आनर्थक्य है। इस प्रकार आवश्यकता से अधिक उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का संग्रह करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य कहलाता है। इस प्रकार अनर्थदण्डव्रत के अतिचारों का वर्णन किया।

सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्त्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनाद् द्रव्यार्थेनात्मन एकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति

वा सामायिकम्। तच्च नियतकाले नियतदेशे च भवति। निर्व्याक्षेपमेकान्तं भवनं वनं चैत्यालयादिकं च देशं मर्यादीकृत्य केशबन्धं मुष्टिबन्धं वस्त्रबन्धं पर्यङ्कमकरमुखाद्यासनं स्थानं च कालमवधिं कृत्वा शीतोष्णादिपरीषहविजयः उपसर्गसहिष्णुर्मौनी हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्त्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति। हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यन्तरप्रत्याख्यान-संयमघातिकर्मोदयजनितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रत-मित्युपचर्यते। एवं च कृत्वाऽभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिण एकादशाङ्गाध्ययिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्याप्युपरि-मग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति। एवं भव्योऽपि निर्ग्रन्थरूपधारी सामायिकवशादहमिन्द्रस्थानवासी भवति चेत् किं पुनः सम्यग्दर्शनपूतात्मा सामायिकमापन्न इति।

अर्थ – अब सामायिक शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं – सम्यक् प्रकार से आत्मा के एकत्व के साथ गमन करना अर्थात् आत्मा में तल्लीन होना समय है। मन-वचन-काय की क्रियाओं का अपने-अपने विषयों से निवृत्त होकर आत्मा के साथ वर्तन करने को समय कहते हैं। अर्थात् द्रव्यार्थ रूप से आत्मा का एकत्वगमन या एकाग्र होना समय कहलाता है। इस एकत्वगमनरूप समय को ही सामायिक कहते हैं। अथवा समय अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति जिसका प्रयोजन हो, उसे सामायिक कहते हैं।

यह सामायिक नियतकाल में नियतप्रदेश में किया जाता है। विक्षेप-रहित एकान्त भवन, वन या चैत्यालय आदि योग्य देश की मर्यादा करके, केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध, पर्यंकासन, मकरमुखासन आदि आसन, स्थान और काल की मर्यादा करके शीत-उष्ण आदि परीषहों को जीतने वाला, आने वाले उपसर्गों को सहन करने वाला, मौनधारक, हिंसादिक पापों से और विषय-कषायों से निवृत्त होकर

सामायिक में वर्तमान श्रावक महाव्रती होता है। यद्यपि उसके भीतर संयम का घात करने वाले प्रत्याख्यानावरण कषायरूप कर्म के उदय-जनित मन्द अविरति परिणाम पाये जाते हैं, तथापि हिंसादिक सर्व सावद्ययोग में अनासक्त चित्त होने से उसके अणुव्रतों को उपचार से महाव्रत कहा जाता है।

इस प्रकार सामायिक करके अन्तरंग में असंयम भाव वाले और बाहर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने वाले तथा ग्यारह अंगों का अध्ययन करने वाले अभव्य जीव के भी उपरिम (नवम) ग्रैवेयक विमानवासी अहमिंद्रों में उत्पन्न होना संभव होता है। इसी प्रकार द्रव्य निर्ग्रन्थ रूपधारी भव्य भी सामायिक के वश से अहमिन्द्रों के स्थान का निवासी होता है। फिर सम्यग्दर्शन से पवित्र आत्मा वाला यदि कोई निर्ग्रन्थलिंग धारण कर सामायिक को प्राप्त हो, तो उसका क्या कहना? वह तो मोक्ष को ही प्राप्त करेगा।

सामायिकव्रतस्य सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्य पञ्चातीचारा भवन्ति- कायदुःप्रणिधानं वाग्दुःप्रणिधानं मनोदुःप्रणिधानं अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति तत्र। दुष्टं प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्। क्रोधादिपरिणामवशाद्दुष्टं प्रणिधानं भवति। शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानम्। वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्वं चपलादि वाग्दुःप्रणिधानम्। मनसोऽनर्पितत्वं मनोदुःप्रणिधानम्। इति कर्त्तव्यतां प्रत्यसाकल्याद्यथा कथञ्चित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः। अनेकारम्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थापनम्। अथवा रात्रिंदिवं प्रमादिकस्य सञ्चिन्त्यानुपस्थापनं स्मृत्यनुपस्थानम्। मनोदुःप्रणिधानस्मृत्यनुप-स्थानयोरयं भेदः – क्रोधाद्यावेशात्सामायिकौदासीन्येन वाऽचिर-कालमवस्थापनं मनसो मनोदुःप्रणिधानम्। चिन्तायाः परिस्पन्दनादैकाग्येणानवस्थापनं स्मृत्यनुपस्थापनमिति विस्पष्टमन्यत्वम्।

अर्थ – सर्वसावद्ययोग के परित्याग वाले इस सामायिकव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – कायदु:प्रणिधान, वाग्दु:प्रणिधान, मनोदु:प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन। खोटे उपयोग को दु:प्रणिधान कहते हैं। अथवा अन्यथा प्रवृत्ति को दु:प्रणिधान कहते हैं। क्रोधादि कषायरूप खोटे परिणामों के वश से दुष्ट प्रणिधान होता है। शरीर के हस्त-पाद आदि अंगों को स्थिर न रखना कायदु:प्रणिधान है। शब्दों के उच्चारण में और उसके भावरूप अर्थ में अजानकारी और चपलता आदि रखना वाग्दु:प्रणिधान है। सामायिक करने में मन का उपयोग न लगाना मनोदु:प्रणिधान है।

सामायिक में करने योग्य कार्यों के प्रति अपूर्णता रखना, उनमें जिस किसी प्रकार पूरा करने की प्रवृत्ति होना, सामायिक करने में उत्साह न होना अनादर है। सामायिक करते समय चित्त एकाग्र न रखना, अथवा चित्त में समानता न रखना, अथवा रात-दिन प्रमाद-युक्त रहने से बोलते या चिन्तवन करते हुए पाठ या अर्थ को भूल जाना स्मृत्यनुपस्थापन कहलाता है। मनोदु:प्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापन में यह भेद है कि क्रोधादि के आवेश से अथवा सामायिक करने में उदासीनता रखने से अल्पकाल सामायिक में मन का लगना मनोदु:प्रणिधान है। और चिन्ता के विकल्प उठते रहने से चित्त का एकाग्रता से स्थिर न रहना स्मृत्युपस्थापन है। इस प्रकार दोनों अतिचारों में भिन्नता स्पष्ट है।

प्रोषध: पर्वपर्यायवाची। शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौन्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवास:। उक्तं च –

अर्थ – प्रोषध शब्द पर्व का पर्यायवाची है। कर्ण आदि पाँचों इन्द्रियाँ अपने शब्द आदि विषयों के ग्रहण के प्रति उत्सुकता छोड़कर जब आत्मा में आकर निवास करती हैं, तब उसे उपवास कहते हैं।

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यत: वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥११॥

अर्थ – कहा भी है – सब इन्द्रियाँ अपने विषयभूत कार्यों से निवृत्त होकर और आत्मा में आकर जब निवास करें, तब वह ज्ञानियों के द्वारा उपवास कहा जाता है ॥११॥

पर्वणि चतुर्विधाऽऽहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः। निरारम्भः श्रावकः स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिभिर्विरहितः शुचाववकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितान्तःकरणः सन्नुपवसेत्।

अर्थ – पर्व के दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास है। पर्व के दिन श्रावक आरम्भ-रहित होकर और अपने शरीर के संस्कार के कारणभूत स्नान-गन्ध-माला-आभूषण आदि से रहित होकर किसी पवित्र स्थान पर, साधुओं के निवास स्थल पर, चैत्यालय में, अथवा अपने प्रोषधोपवास के घर में धर्म-कथाओं के सुनने-सुनाने में और तत्त्व-चिन्तवन में मन को लगाता हुआ उपवास करे।

प्रोषधोपवासस्य पञ्चातिचारा भवन्ति– अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणं अनादरः स्मृत्यनुपस्थानं चेति। तत्र जन्तवः सन्ति, न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुषोर्व्यापारो मृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जनं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्गः। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यादि-पूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम्। अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरणस्योपक्रमणमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमणम्। क्षुत्पीडितत्वादावश्यकेष्वनुत्साहोऽनादरः। स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातमेव।

अर्थ – प्रोषधोपवास के पाँच अतीचार इस प्रकार हैं – अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन। यहाँ जीव हैं, अथवा नहीं, इस प्रकार आँख से देखने को प्रत्यवेक्षण कहते हैं। किसी कोमल बुहारी आदि उपकरण से स्थान के शुद्ध करने या बुहारने को प्रमार्जन कहते हैं। बिना देखी बिना शोधी भूमि पर मल-मूत्र को छोड़ना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहलाता है। अरहंत और आचार्यादि की पूजा के उपकरण, गन्ध, माला, धूप आदि सामग्री और अपने पहनने आदि के वस्त्र-पात्र आदि का बिना देखे बिना शोधे ग्रहण करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे बिना शोधे ओढ़ने और बिछाने के वस्त्र-बिस्तर चटाई आदि का उपयोग करना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण है। भूख से पीड़ित होने के कारण उपवास के दिन करने योग्य आवश्यकों में उत्साह न रखना अनादर है। स्मृत्यनुपस्थापन की व्याख्या सामायिक के अतीचारों में पहले कर ही चुके हैं।

उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनपानगन्धमाल्यादिः। सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोगः, आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः। तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधम्–त्रसघातप्रमादवहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा। मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसम्मोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि, आर्द्रशृङ्गवेरमूलक-हरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि। एतेषामुपसेवनेन बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। यानवाहनाभरणादि-ष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्त्तव्यम्। न हि व्रतमभिसन्धिनियमाभावे सतीष्टानामपि चित्रवस्त्रवेषाभरणादीना-

मनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यो यावज्जीवम्। अथ न कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम्।

अर्थ – जो प्राप्त करके आत्मसात् कर भोगे जायें – ऐसे भोजन, पान, गन्ध, माला आदि पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। एक बार भोग करके फिर भी जो भोगे जायें, ऐसे ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, अलंकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि पदार्थ परिभोग कहलाते हैं। उनका परिमाण करना उपभोगपरिभोगपरिमाण है। भोगपरिसंख्यान त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट और अनुपसेव्य विषय के भेद से पाँच प्रकार का है – त्रसघात के प्रति निवृत्त चित्तवाले श्रावक को मधु और मांस का भक्षण सदा के लिए छोड़ देना चाहिए। मद्य का सेवन मोहित करके कार्य और अकार्य के विवेक को नष्ट कर देता है, अतएव प्रमाद को दूर करने के लिए उस मद्य का त्याग करना चाहिए।

केतकी, अर्जुन पुष्प आदि अनेक त्रसजन्तुओं के योनिस्थान हैं, गीला अदरक, मूली, हल्दी, निम्बपुष्प आदि अनन्तकाय वाले पदार्थ हैं। इनके सेवन करने में बहुत जीवों का घात है और फल अल्प प्राप्त होता है, इसलिये इनका परिहार करना ही श्रेयस्कर है। सवारी के यान वाहन और आभूषण आदि पदार्थों में जितने से कार्य चले, उतने रखना ही इष्ट है, उससे अधिक अन्य पदार्थ अनिष्ट हैं, अतः इस व्रतधारी को अनिष्ट से निवृत्त करना चाहिए। अभिप्रायपूर्वक नियम के अभाव में किसी वस्तु का सेवन नहीं करना व्रत नहीं कहलाता है, अतः अपने लिए इष्ट भी अनेक जाति के वस्त्र, विविध पोशाकें और अनेक प्रकार के आभूषण आदि जो प्रतिदिन सेवन करने में नहीं आते हैं, उनका परित्याग भी यावज्जीवन के लिए कर देना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो काल की मर्यादा के साथ वस्तुओं का परिमाण करते हुए शक्ति के अनुसार अनुपसेव्य से निवृत्ति अवश्य करना चाहिए।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति–

सचित्ताहारः सचित्त-सम्बन्धाहारः सचित्तसन्मिश्राहारः, अभिषवाहारः दुष्पक्वाहारश्चेति। तत्र चेतनावद्द्रव्यं सचित्तं हरितकायः, तदभ्यवहरणं सचित्ताहारः। सचित्तवतोपश्लिष्टः सचित्तसम्बद्धाहारः। सचित्तेन व्यतिकीर्णः सचित्तसन्मिश्राहारः। सौवीरादिद्रवो वा वृष्यं वाऽभिषवाहारः। सान्तस्तन्दुल-भावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुःपक्वाहारः। सम्बन्धमिश्रयोरयं भेदः—संसर्गमात्रं सम्बन्धः, सूक्ष्मजन्तुव्याकीर्णत्वाद्विभागी-कर्तुमशक्यः सन्मिश्रः। एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धिर्वातादिप्रकोपो वा स्यात्। तत्प्रतीकारविषये पापलेपो भवति। अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति।

अर्थ – उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के पाँच अतीचार इस प्रकार हैं – सचित्ताहार, सचित्त-सम्बन्धाहार, सचित्तसन्मिश्राहार अभिषवाहार और दुःपक्वाहार। चेतना वाली हरितकायिक वनस्पति आदि द्रव्य को सचित्त कहते हैं। सचित्त वस्तु को खाना सचित्ताहार है। सचित्त वस्तु को लिपटा हुआ या सचित्त पत्र आदि पर रखा हुआ आहार सचित्त सम्बद्धाहार है। सचित्त से मिश्रित आहार सचित्तसन्मिश्राहार है। सौवीर (सिरका अर्क आसव) आदि तरल और पौष्टिक पदार्थों को अभिषवाहार कहते हैं। भीतर चावल रूपवाला अर्थात् अर्धपक्व अथवा अधिक पक जाने से जला हुआ दुष्ट पक्व आहार दुःपक्वाहार कहलाता है।

सचित्त सम्बन्ध और सचित्तमिश्र में यह भेद है कि जिस आहार का सचित्त पत्रादि के साथ केवल संसर्ग हुआ है, वह सचित्तसम्बन्धाहार कहलाता है और जिस आहार में हरी मिर्च या हरे धनिये आदि के छोटे-छोटे सचित्त टुकड़ों के सूक्ष्म जीव इस प्रकार मिल गये हों कि जिनका अलग करना शक्य नहीं है, ऐसे आहार को सचित्तसन्मिश्राहार कहते हैं। इनमें से प्रारम्भ के तीन प्रकार के आहारों के खाने पर सचित्त वस्तु का उपयोग होता है, चौथे प्रकार के आहार करने पर इन्द्रियों में मद की

वृद्धि होती है और पंचम प्रकार के आहार करने पर वात आदि दोष का प्रकोप हो सकता है, और फिर उसके प्रतीकार करने में पाप का लेप होता है, इसलिए अतिथि जनों को इस प्रकार के आहारों का परिहार करना चाहिए।

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः, अनियतकाल-गमनमित्यर्थः। अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः– भिक्षोपकरणौषध-प्रतिश्रयभेदात्।

अर्थ – जो संयम का विनाश नहीं करते हुए अर्थात् संयम की रक्षा करते हुए सदा विहार करते रहते हैं, उन्हें अतिथि कहते हैं। अथवा जिसकी तिथि नियत नहीं, अर्थात् अनियत काल में जो गमन करें, उन्हें अतिथि कहते हैं। ऐसे अतिथि के लिए आहार आदि का जो विभाग किया जाता है, वह अतिथिसंविभाग कहलाता है। यह अतिथिसंविभाग भिक्षा उपकरण औषधि और प्रतिश्रय (निवास स्थान वसतिका आदि) के भेद से चार प्रकार का है।

अतिथि को भिक्षा (आहार) देने के विषय में कहा है कि –

उक्तं हि – प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादक्षालनमर्चनम्।
प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव॥१२॥

साधु को आता हुआ देखकर उसे पड़िगाहें, ऊँचे स्थान पर बिठावें, पाद-प्रक्षालन करें, पूजन करें, मन-वचन-काय – इन तीनों योगों की शुद्धि रखें और शुद्ध आहार देवें॥१२॥

उक्तं हि –

श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम्॥१३॥

अर्थ – दाता के गुण इस प्रकार कहे गये हैं – श्रद्धा, शक्ति,

अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थों के होने चाहिए ॥१३॥

एवंविधनवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिकुशलेन सप्तगुणैः समन्वितेन मोक्षमार्गमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धचेतसाऽऽश्चर्य-पञ्चकादिकमनिच्छता निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि। औषधं ग्लानाय वातपित्तश्लेष्मप्रकोपहताय योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति।

अर्थ – इस प्रकार उपर्युक्त नव प्रकार के पुण्यों से नवधा भक्ति करने में कुशल और सात गुणों से संयुक्त श्रावक को मोक्षमार्ग पर चलने में उद्यत और संयम-परायण अतिथि के लिए शुद्ध चित्त से पंचाश्चर्य आदि फल की इच्छा न करते हुए निर्दोष भिक्षा देना चाहिए तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को बढ़ाने वाले धर्मोपकरण पीछी, शास्त्र, कमण्डलु आदि देनी चाहिए। वात-पित्त-कफ के प्रकोप से पीड़ित रोगी साधु को योग्य औषधि देनी चाहिए तथा उनके ग्राम में आने पर परम श्रद्धा से वसतिका आदि का आश्रय प्रदान करना चाहिए।

अतिथिसंविभागव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति– सचित्तनिक्षेपः सचित्तपिधानं परव्यपदेशः मात्सर्यं कालातिक्रमश्चेति। तत्र सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं सचित्तनिक्षेपः। सचित्तेनावरणं सचित्तपिधानम्। अयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं परव्यपदेशः। प्रयच्छतोऽपि सत आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यम। अनगाराणामयोग्ये काले भोजनं कालातिक्रम इति।

अर्थ – इस अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतीचार इस प्रकार हैं– सचित्तनिक्षेप, सचित्त-पिधान, परव्यपदेश मात्सर्य और कालातिक्रम। देने योग्य आहार को सचित्त कमलपत्र आदि पर रखना सचित्तनिक्षेप है। आहार को सचित्त पत्रादि से ढकना सचित्तपिधान है। इस आहार का

दाता यह है और दिया जाने वाला आहार इस अमुक पुरुष का है, ऐसा कहकर आहार देना परव्यपदेश है। आहार देते हुए भी आदर के बिना देना मात्सर्य है। साधुओं को अयोग्य काल में भोजन देने के लिए खड़े होना कालातिक्रम अतीचार है।

पात्रदानं स्वस्य परस्य चोपकारः। स्वोपकारः पुण्यसञ्चयः परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः। तच्च दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणं साक्षात्पुण्यहेतुः। विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृविशेषात् पात्रविशेषाद् दानविशेषः। तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापनमित्येवमादीनां क्रियाणा-मादरेण करणं विधिविशेषः। दीयमानेऽन्नादौ प्रतिग्रहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेषः। प्रतिगृहीतृजनेऽभ्यस्ततया त्यागोऽविषादो दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसन्धितावसुधारा-सुरप्रशंसादिदृष्टफलान-पेक्षिता, निरुपरोधत्वमनिदानत्वं श्रद्धादि-गुणसमन्वितत्वमित्येवमादि दातृविशेषः। मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। ततश्च फलविशेषः।

अर्थ – पात्रदान अपना भी उपकारक है और पर का भी उपकारक है। दान देने पर पुण्य का संचय होना अपना उपकार है और अतिथि के सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि होना यह पर का उपकार है। यह दान परम्परा से मोक्ष का कारण है और साक्षात् पुण्य का कारण है। विधि की विशेषता से, द्रव्य की विशेषता से, दाता की विशेषता से और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता हो जाती है। प्रतिग्रह, उच्च स्थान पर स्थापन इत्यादि पूर्वोक्त क्रियाओं को आदर से करना विधि की विशेषता है। भिक्षा में दिया जाने वाला अन्न आदि यदि लेने वाले पात्र के तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि करे तो यह द्रव्य की विशेषता कहलाती हैं।

आहार लेने वाले साधु को अभ्यस्त रीति से दान देना, विषाद नहीं करना, देने के इच्छुक, देने वाले और दे रहे दाता के प्रति प्रेमभाव रखना, अपने दान की कुशलता की प्रख्याति चाहना, रत्न-सुवर्णादि

की वर्षा और देवों द्वारा प्रशंसा आदि इहलौकिक फलों की अपेक्षा न रखना, किसी को दान देने से नहीं रोकना, निदान नहीं करना और श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होना इत्यादि दाता की विशेषता है। साधु में मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणों का संयोग होना यह पात्र की विशेषता है। इन युक्त विशेषताओं से दान के फल में भी विशेषता होती है।

सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत्।
फलाय यदपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्पते॥१४॥

अर्थ – जैसे उत्तम क्षेत्र में बोया गया छोटा-सा भी बीज भारी फल को देता है, इसी प्रकार सत्पात्र में दिया गया अल्प भी दान अनल्प (भारी) फल के लिए होता है अर्थात् महान् फल देता है॥१४॥

तथा च दानफलविशेषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्पवृक्ष-जनितसुखफलं श्रीषेणोऽन्वभूत्। तथा च दानानुमोदेन रतिवररतिवेगाख्यं कपोतमिथुनं विजयार्धप्रतिबद्धगान्धार-विषयसुसीमानगराधिपतेरादित्यगते रतिवरवरो हिरण्यवर्मनामा नन्दनोऽभूत्। तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषये भोगपुरपतेर्वायुरथस्य रतिवेगवरी प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत्। एवं हिरण्यवर्मा प्रभावती च जातिकुलसाधितविद्याप्रभावेन सुखमन्वभूताम्।

अर्थ – देखो, श्रीषेण राजा ने दान के फल की विशेषता से उत्तम भोगभूमि में दश प्रकार के कल्पवृक्षजनित सुखों का फल भोगा। तथा दान की अनुमोदना से रतिवर कपोत और रतिवेगा कपोती नाम के कपोत युगल में से विजयार्ध पर्वत पर अवस्थित गान्धार देश की सुसीमा नगरी के राजा आदित्यगति के रतिवर कपोत के हिरण्यवर्मा नाम का पुत्र हुआ और उसी पर्वत पर गिरिदेश में भोगपुर के स्वामी वायुरथ के वह रतिवेगा कपोती प्रभावती नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। पुनः हिरण्यवर्मा और प्रभावती ने जातिविद्या, कुलविद्या और साधित विद्याओं के प्रभाव से जीवन भर सुख भोगे।

उक्तहिंसादिपञ्चदोषविरहितेन द्यूतमद्यमांसानि परिहर्त्तव्यानि। तथा चोक्तं महापुराणे–

अर्थ – उपर्युक्त हिंसादि पाँच पापों से रहित श्रावक को द्यूत, मद्य और मांस का भी परिहार करना चाहिए। जैसा कि महापुराण में कहा है –

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥१५॥

अर्थ – बादर भेदस्वरूप स्थूल हिंसा से, असत्य से, चोरी से, अब्रह्म से और परिग्रह से, तथा द्यूत से, मांस से और मद्य से विरत होना ये गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं ॥१५॥

कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवञ्चनानृतानि प्रजायन्ते, अर्थक्षयोऽपि भवति, जनेष्वविश्वसनीयश्च। सप्तव्यसनेषु प्रधानं द्यूतं तस्मात्तत्परिहर्तव्यम्। तथा च – भरतेऽस्मिन् कुलालविषये श्रावस्तिपुराधिपतिः सुकेतुमहाराजो महाभोगी द्यूतव्यसनाभिहतः स्वकीयं कोशं राष्ट्रमन्तःपुरं च हारयित्वा महादुःखाभिभूतोऽभूत्। तथा च युधिष्ठिरोऽपि द्यूतेन राज्याद् भ्रष्टः कष्टां दशामवाप।

अर्थ – द्यूत खेलनेवाले के सदा राग, द्वेष, मोह, कपट और असत्य वचन उत्पन्न होते हैं, धन का नाश भी होता है, और लोगों में अविश्वास का पात्र भी बनता है। सातों ही व्यसनों में द्यूत सबसे प्रधान है, इसलिये उसका परित्याग ही करना चाहिये। देखें–इसी भरतक्षेत्र के कुलाल देश में श्रावस्ती नगरी का राजा सुकेतु महाराज महान् भोगवाला था, किन्तु द्यूतव्यसन का मारा वह अपने खजाने को, राष्ट्र को और अन्तः-पुर को भी हार कर महादुःखों से पीड़ित हुआ तथा युधिष्ठिर महाराज भी द्यूत से राज्यभ्रष्ट होकर अत्यन्त कष्टदायिनी दशा को प्राप्त हुए।

मांसान्निवृत्तिरहिंसाव्रतपरिपालनार्थम्। मांसाशिनं साधवो

विनिन्दन्ति, प्रेत्य च दुःखभाग् भवति। तथा चान्यैरुक्तम्–

अर्थ – अहिंसाव्रत की परिपालना के लिए मांस से निवृत्ति करना चाहिए। मांस-भक्षी पुरुष की साधुजन निन्दा करते हैं और परलोक में वह भारी दुःखों को भोगता है।

जैसा कि अन्य मतवालों ने भी कहा है –

मां स भक्षयति प्रेत्य यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१६॥

अर्थ – इस लोक में मैं जिसका मांस खाता हूँ, परलोक में वह मुझे खायेगा। अर्थात् 'मांस' ये दो अक्षर हैं, 'मां' मुझे, 'स' वह खायेगा, जिसे कि मैं आज खा रहा हूँ, यह 'मांस' शब्द की मांसता मनीषी जन कहते हैं ॥१६॥

मांसं प्राणिशरीरं प्राण्यङ्गस्य च विदारणेन विना।
तन्नाप्यते ततस्तत्त्यक्तं जैनैः सदा सर्वैः ॥१७॥

अर्थ – मांस यह प्राणियों का शरीर-जनित पदार्थ है, क्योंकि यह मांस प्राणियों के अंग का विदारण किये बिना नहीं प्राप्त होता है, अतः सभी जैन लोग सदा के लिए उस मांस का त्याग करते हैं ॥१७॥

तथा हि – कुम्भनाम्नो नरपतेर्भीमो नाम महानसिक-स्तिर्यग्मांसमलभमानो मृतशिशुमांसं सर्वसंभारेण सन्मिश्रं कृत्वा कुम्भस्य दत्तवान्। ततः प्रभृति सोऽपि नरमांसलोलुपः सञ्जातः। तज्ज्ञात्वा प्रकृतयो राज्यस्यायमयोग्य इति तं परिहृतवत्यः। तथा च विन्ध्यमलय-कुटजवने किरातमुख्यः खदिरसारः समाधिगुप्तमुनिं दृष्ट्वा प्रणतः। तस्मै धर्मलाभ इत्युक्ते कोऽसौ धर्मः, कोऽसौ लाभ इत्युक्तपरिप्रश्ने मांसादिनिवृत्तिर्धर्मस्तत्प्राप्तिर्लाभः, ततः स्वर्गादिसुखं जायत इत्युक्तवति मुनौ तत्सर्वं परिहर्तुमहमशक्त इति वचने तदाकूतमवधार्य त्वया काकमांसं पूर्वं किं भक्षितमुत न

वेत्युक्तेऽकृतभक्षणोऽहमिति प्रतिवचने यद्येवं तदभक्षणव्रतं त्वया गृह्यतामित्युपदेशेन तत्परिगृह्याभिवन्द्य गतवतः कालान्तरे तस्यामये समुत्पन्ने सति वैद्येन काकमांसभक्षणादस्य व्याधेरुपशमो भविष्यतीत्युक्ते कण्ठगतेष्वपि प्राणेषु मया न कर्त्तव्यं तत्काकमांसोपयोगविरमणव्रतं तपोधनसमीपे परिगृहीतं सङ्कल्पभङ्गे कुतः सत्पुरुषता? ततः काकमांसाभ्यवहरणं न करिष्यामीति प्रतिज्ञाने समुपलक्षिततदीयाकूतस्तं मांसमुपयोजयितुं सौरपुराधिपतिः शूरवीरनामा तस्य मैथुनः समागच्छन् वनगहनगतवटतरोरधः काञ्चिदभिरुदतीं समीक्ष्य 'कथय केन हेतुना रोदिष्येका त्वम्' इत्यनुयुक्ता साऽवोचदहं यक्षी। तव श्यालकं बलवदामयपरिपीडितं मांसभक्षणविरमणव्रतफलेन मेभविष्यन्तमधिपतिं भवानद्य मांसभोजनेन नरकगतिभागिनं कर्तुं प्रारभत इति रोदनमनुभवामीति तयोदितः 'श्रद्धेहि' तदहं न कारयिष्यामीति व्याहृत्य गत्वा तमवलोक्य शरीरामयनिराकरणहेतुस्त्वया मांसोपयोगः क्रियतामिति प्रियश्यालकवचनश्रवणेन 'त्वं प्राणसमो बन्धुः श्रेय एव मे कथयितुमर्हसि, न हितार्थवचनमेतन्नरकगतिप्रापणहेतुत्वात्। एवं म्रियमाणोऽपि म्रिये, न तु प्रतिज्ञाहानिं करोति' इति निगदितस्तदभिप्रायविधारणात् स तस्मै यक्षीनिरूपितवृत्तान्तमकथयत्। सोऽपि तदाकर्णनादहिंसादिश्रावकव्रतमविकलमादाय जीवितान्ते सौधर्मकल्पे देवोऽभवत्। शूरवीरश्च तस्य परलोकक्रियावसान उपगच्छन् यक्षीं निरीक्ष्य कथय स किं मे मैथुनस्तव पतिरजायतेति परिपृष्टा साऽवोचत् – स्वीकृतसमस्तव्रतसंग्रहस्यामुख्यव्यन्तरगतिपराङ्मुखस्य सौधर्मकल्पे समुत्पत्तिरासीत्। ततो मदधिपत्वप्रच्युतः प्रकृष्टदिव्यभोगमनुभवतीति हृदयगततद्वचनार्थनिश्चतमतिरहो व्रतप्रभावः समभिलषितफलप्रदानसमर्थ इति समाधिगुप्तमुनिसमीपे परिगृहीतश्रावकव्रतो बभूव। खदिरसारो द्विसागरोपमकालो

दिव्यभोग-मनुभूय समनुष्ठितभोगनिदानः स्वजीवितान्ते ततः प्रच्युतः प्रत्यन्तपुरे सुमित्रनामा मित्रराज्ञः पुत्रोऽभूत्। निर्दर्शनतपः कृत्वा व्यन्तर आसीत्। ततः कुणिकनरपतेः श्रीमतीदेव्याश्च श्रेणिकोऽभूदिति। एवं दृष्टादृष्टफलस्याप्यहितं मांसम्।

अर्थ – देखो, राजा कुम्भ के भीम नाम का रसोइया (पाचक) था। किसी दिन उसे तिर्यंच पशु का मांस नहीं मिला, इसलिये उसने एक मरे हुए बालक का मांस पकाया और उसमें सब मसाले डालकर राजा कुम्भ को खाने के लिए दिया। उसे यह बहुत स्वादिष्ट लगा और तब से वह नर-मांस खाने का लोलुपी हो गया। यह बात जानकर वहाँ की प्रजा ने 'यह राज्य के अयोग्य है।' ऐसा निश्चय कर उसे राज्य से निकाल दिया।

इसी प्रकार विन्ध्याचल के मलयकुटज वन में खदिरसार नाम के एक भीलों के मुखिया ने समाधिगुप्त मुनि को देखकर उन्हें नमस्कार किया। मुनिराज ने उसके लिए 'धर्मलाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। इस पर खदिरसार ने पूछा कि धर्म क्या है और उसका लाभ क्या है? उसके ऐसा पूछने पर मुनिराज ने कहा कि मांसादि का त्याग करना धर्म है, और उसकी प्राप्ति होना लाभ कहलाता है। उस धर्म के लाभ से स्वर्गादि के सुख प्राप्त होते हैं। मुनिराज के ऐसा कहने पर खदिरसार ने कहा कि मैं सर्व प्रकार के मांस का त्याग करने के लिए असमर्थ हूँ। उसके यह कहने पर मुनिराज ने उसका अभिप्राय जानकर उससे पूछा कि क्या तूने पहले कभी काक का मांस खाया है या नहीं?

इसके उत्तर में खदिरसार ने कहा कि मैंने आज तक कभी भी काक का मांस नहीं खाया है। यह सुनकर मुनिराज ने कहा कि यदि ऐसा है तो तू काक-मांस के नहीं खाने का व्रत ग्रहण कर ले। इस प्रकार मुनिराज के उपदेश से 'काक-मांस' के न खाने का व्रत लेकर और मुनिराज की वन्दना करके वह चला गया। कालान्तर में उसके किसी

रोग के उत्पन्न होने पर वैद्य ने कहा कि काक-मांस के खाने से इसकी व्याधि का उपशमन होगा।

तब खदिरसार ने मन में सोचा कि कण्ठगत भी प्राणों के होने पर मुझे मांस-भक्षण नहीं करना चाहिए। मैंने काक-मांस के उपयोग न करने का व्रत तपोधन मुनिराज के समीप ग्रहण किया है। अब (परीक्षा के समय) संकल्प का भंग करने पर सत्पुरुषता कैसे रहेगी। इसलिए मैं काक-मांस का भक्षण नहीं करूँगा, ऐसी उसने प्रतिज्ञा की। उसकी प्रतिज्ञा सुनकर और उससे उसके अभिप्राय को जानकर उसे काक-मांस खिलाने के लिए उसका बहनोई सौरपुर नगर का राजा शूरवीर जब अपने नगर से खदिरसार के यहाँ जा रहा था, तब गहन वन के मध्य वट वृक्ष के नीचे किसी रोती हुई स्त्री को देखकर उसने उससे पूछा कि 'कहो किस कारण से तुम यहाँ अकेली बैठी रो रही हो?'

ऐसा पूछे जाने पर वह बोली – मैं एक यक्षी हूँ। तुम्हारा साला जो किसी बलिष्ठ रोग से पीड़ित है, वह काक-मांस भक्षण न करने के व्रत के फल से मर कर मेरा पति होनेवाला है। किन्तु आप आज उसे मांस भोजन करा कर नरकगति का भागी बनाने के लिए जा रहे हैं, इस दुःख से मैं रो रही हूँ। उस यक्षी के ऐसा कहने पर शूरवीर ने कहा – तू विश्वास कर, मैं उसे मांस-भोजन नहीं कराऊँगा।

ऐसा कहकर वह साले के घर गया और उसे अत्यन्त रुग्ण देखकर बोला कि तुम्हें शरीर के रोग-निराकरण करने के लिए मांस का उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार प्रिय साले (बहनोई) के वचन सुनकर खदिरसार ने कहा – 'तुम मेरे प्राणों के समान बन्धु हो, तुम्हें मेरे कल्याण की ही बात कहनी चाहिये। मांस-भक्षण करने का कहना यह मेरे हित के लिए नहीं है, क्योंकि ये तो मुझे नरकगति में पहुँचाने के कारण हैं। इस प्रकार यदि मुझे मरना पड़ेगा, तो मर जाऊँगा, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा का भंग नहीं करूँगा। इस प्रकार कहने से उसका अभिप्राय जानकर

शूरवीर ने खदिरसार के लिए यक्षी के द्वारा कहा हुआ सर्व वृत्तान्त कहा। वह भी उसे सुनकर श्रावक के अहिंसादि सर्व व्रतों को ग्रहण करके जीवन के अन्त में मर कर सौधर्म कल्प में देव उत्पन्न हुआ।

पुनः शूरवीर उसकी परलोक सम्बन्धी सब क्रिया के पूर्ण होने पर अपने नगर को वापस जाते हुए यक्षी को देखकर पूछा – कि कहो; क्या मेरा साला तुम्हारा पति हो गया? ऐसा पूछने पर वह बोली – कि उसने मरते समय श्रावक के समस्त व्रत समुदाय को स्वींकार कर लिया था, इसलिए वह हीन व्यन्तर देवों की गति से पराङ्मुख होकर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ है और इस प्रकार मेरा पति होने से छुटकारा पाकर स्वर्ग के उत्तम दिव्य भोगों का अनुभव कर रहा है।

यक्षी का यह कथन सुनकर और हृदयगत उसके वचन का अर्थ निश्चय कर उसने मन में कहा–अहो व्रत का प्रभाव अभिलषित फल के देने में समर्थ है और फिर समाधिगुप्त मुनिराज के समीप जाकर उसने श्रावक के सर्वव्रत ग्रहण कर लिए। खदिरसार दो सागरोपम काल तक दिव्य भोगों का अनुभव कर और आगामी भव में भी भोगों के पाने का निदान कर अपने जीवन के अन्त में वहाँ से च्युत हुआ और प्रत्यन्तपुर नामक नगर में मित्र राजा के सुमित्र नाम का पुत्र हुआ। इस भव में वह सम्यक्त्वरहित तप करके व्यन्तरदेव हुआ। पुनः वहाँ से च्युत होकर कुणिक नरपति और श्रीमती देवी के श्रेणिक नाम का राजा हुआ। इस प्रकार उक्त कथानकों से यह स्पष्ट है कि मांस-भक्षण का प्रत्यक्ष फल भी अहितकर है और परोक्ष फल भी अहितकर है। अतः मांस-भक्षण का त्याग करना चाहिए।

मद्यपस्य हिताहितविवेकता वाच्यावाच्यता गम्यागम्यता कार्याकार्यं च नास्ति। मद्यमुपसेविनो जनस्य स्मृतिं विनाशयति। विनष्टस्मृतिकः किं न करोति, किं न भाषते, कमुन्मार्गं न गच्छति? सर्वदोषाणामास्पदं तदेव तस्याख्यानम्।

अर्थ – मदिरा-पान करने वाले के हित-अहित का कुछ विचार नहीं रहता, क्या कहना चाहिए, क्या नहीं? आदि किसी प्रकार का विवेक नहीं रहता है। मद्य-सेवी मनुष्य की स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और जिसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है, वह कौन-सा पाप कार्य नहीं करता? कौन-से दुर्वचन नहीं बोलता? और किस कुमार्ग पर नहीं जाता है? कहने का तात्पर्य यह है कि वह सभी दोषों का स्थान बन जाता है। इसका एक कथानक इस प्रकार है-

तथाहि–कश्चिद् ब्राह्मणो गुणी गङ्गास्नानार्थं गच्छन्नटवीप्रदेशे प्रहसनशीलेन मदिरा-मदोन्मत्तेन कान्तासहितशबरेण स निरुध्य मांसभक्षण-सुरापान-शबरीसंसर्गेषु भवताऽन्य-तममङ्गी-करणीयमन्यथा भवन्तं व्यापादयामीत्युक्तः किंकर्तव्यतामूढः प्राण्यङ्गत्वान्मांसभक्षणे पापोपलेपो भवति, शबरीसंसर्गे जातिनाशः संजायते, पिष्टोदकगुडधातक्यादिसमुत्पन्नं निरवद्यं मद्यमिदं पिबामीति पीत्वा विनष्टस्मृतिरगम्यगमनमभक्ष्यभक्षणं च कृतवान्। तथा हि– मद्यपायिनामपराधेन द्वीपायनमुनिकोपाद् भस्मीभूतायां द्वारवत्यां विनष्टा यादवा इति।

अर्थ – कोई गुणी ब्राह्मण गंगा-स्नान के लिए जा रहा था। किसी अटवी-प्रदेश में मदिरा के मद से उन्मत्त, किसी हँसी-मजाक करनेवाले स्त्री-सहित भील ने उसे रोक कर कहा कि मांस-भक्षण, मद्य-पान और हमारी भीलनी के साथ संसर्ग, इन तीनों में से कोई एक कार्य आप अंगीकार करें, अन्यथा मैं आपको मार डालूँगा। ऐसा कहने पर वह ब्राह्मण किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया और विचारने लगा कि प्राणी का अंग होने से मांस-भक्षण करने पर तो पाप लगेगा, भीलनी के साथ संसर्ग करने पर मेरी जाति का नाश हो जायगा। अतएव अन्न की पीठी जल गुड़ धातकी के फूल आदि से उत्पन्न हुआ यह मद्य निर्दोष है, अतः इस मद्य को मैं पीता हूँ। इस प्रकार विचार कर उसने मद्य पीना

स्वीकार किया और पी करके स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाने से उसने अगम्यगमन भी किया अर्थात् भीलनी के साथ संसर्ग भी किया और मांस-भक्षण भी किया।

और भी देखो – मद्य पीनेवाले यादवों के अपराध से द्वीपायन मुनि के कोप द्वारा द्वारिका के भस्म होने पर सब यादव भी नष्ट हो गये।

मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति विवेकविकलतया।
मातरमपि कामयते सावद्यं मद्यमत एव॥१८॥

अर्थ – मद्य से उन्मत्त पुरुष सब जीवों को मारता है, असत्य प्रलाप करता है और विवेक शून्य हो जाने से अपनी माता के साथ भी काम सेवन करना चाहता है। अतएव मद्य सेवन सर्व पाप कार्यों से भरा हुआ है॥१८॥

(इस प्रकार व्रत प्रतिमा का वर्णन किया।)

सामायिकः सन्ध्यात्रयेऽपि भुवनत्रयस्वामिनं वन्दमानो वक्ष्यमाणव्युत्सर्गतपसि कथितक्रमेण अस्य सामायिकस्यानन्तरोक्त-शीलसप्तकान्तर्गतं सामायिकं व्रतं व्रतिकस्य शीलं भवतीति।

अर्थ – अब सामायिक प्रतिमा का वर्णन करते हैं–प्रातः मध्याह्न और सायंकाल, इन तीनों ही सन्ध्याओं में तीन भुवन के स्वामी जिनेन्द्रदेव की वन्दना करते हुए आगे कहे जाने वाले व्युत्सर्ग तप में कथितक्रम से सामायिक करना चाहिए।

द्विनिषण्णं यथाजातं द्वादशावर्तमित्यपि।
चतुर्नेति त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयेत्॥१९॥

अर्थ – वह क्रम इस प्रकार है–सामायिक खड़े होकर या बैठकर इन दो आसन से करे। उस समय यथाजात रूप रहे, बारह आवर्त्त करे और चार नमस्कार करे। इस प्रकार सामायिक का कृतिकर्म मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक करें॥१९॥

अर्थ – सात शीलों के अन्तर्गत व्रत प्रतिमाधारी के शील अभ्यास रूप है और वही तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी के व्रत रूप में है।

प्रोषधोपवासः मासे मासे चतुर्ष्वपि पर्व दिनेषु स्वकीयां शक्तिमनिगुह्य प्रोषधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति।

अर्थ – प्रत्येक मास में जो चार पर्व होते हैं, उन चारों ही पर्व दिनों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर प्रोषधोपवास करने का नियम करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है। व्रत प्रतिमाधारी के यह प्रोषधोपवास शीलरूप में है और इस प्रतिमावाले के वह व्रतरूप में है।

सचित्तव्रतो दयामूर्त्तिर्मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दपुष्प-बीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोग परिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतं भवतीति।

अर्थ – पाँचवीं सचित्तप्रतिमा का धारी दयामूर्ति होता है, अतः वह मूल, फल, शाक, शाखा, कैर, कन्द, पुष्प और बीजादिक सचित्त वस्तुओं को नहीं खाता है। उपभोगपरिभोगपरिमाण शीलव्रत के जो सचित्ताहार आदि अतीचार हैं, उनका त्याग ही इस प्रतिमा वाले के व्रतरूप हो जाता है।

रात्रिभक्तव्रता रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद् व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः।

अर्थ – छठीं प्रतिमा का नाम रात्रिभक्तिव्रत है। रात्रि में ही स्त्रियों के सेवन का व्रत लेना और दिन में ब्रह्मचारी रहने का नियम करना रात्रिभक्तव्रत प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक रात्रिभोजनव्रत के अतीचारों का त्यागी होता है।

ब्रह्मचारी शुक्रशोणितबीजं रसरुधिरमांसभेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रसप्तधातुमयमनेकस्रोतोविलं मूत्रपुरीषभाजनं कृमिकुलाकुलं

विविधव्याधिविधुरमपायप्रायं कृमिभस्मविष्टापर्यवसानमङ्ग-मित्यनङ्गाद् विरतो भवति।

अर्थ – सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक ब्रह्मचारी पुरुष इस शरीर को माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न हुआ, रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य – इन सात धातुओं से भरा हुआ अनेक छिद्ररूप बिलों वाला, मल-मूत्र का भाजन, कृमि-कुल से व्याप्त, विविध रोगों से ग्रस्त, विनश्वर अपायमय और अन्त में कीड़े पड़कर सड़नेवाला अथवा जलाया जाने पर भस्मभाव को प्राप्त होनेवाला अथवा किसी के द्वारा खाये जाने पर विष्टारूप परिणत होनेवाला देखकर काम सेवन से विरत होता है।

आरम्भविनिवृत्तोऽसिमषिकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भात् प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति।

अर्थ – आठवीं आरम्भ त्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमा वाला जीवघात के कारणभूत असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भों से विरत हो जाता है।

परिग्रहविनिवृत्तः क्रोधादिकषायाणामार्त्तरौद्रयोर्हिंसादि-पञ्चपापानां भयस्य च जन्मभूमिः दूरोत्सातधर्म्यशुक्लः परिग्रह इति मत्वा दशविधबाह्यपरिग्रहाद्विनिवृत्तः स्वच्छः सन्तोषपरो भवति।

अर्थ – नवीं परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक श्रावक परिग्रह को क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने की, आर्त्त-रौद्रध्यान की हिंसादि पञ्च पापों की जन्मभूमि समझ कर तथा उसे धर्म-शुक्लध्यान से दूर करनेवाला मानकर बाहरी दस प्रकार के परिग्रह से निवृत्त होता है और हृदय में स्वच्छ सन्तोष को धारण करता है।

अनुमतिविनिवृत्त आहारादीनामारम्भाणामनुमननाद्विनिवृत्तो भवति।

अर्थ – दसवीं अनुमतित्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक श्रावक आहार बनाने आदि कार्यों के आरम्भों की अनुमोदना से भी निवृत्त हो जाता है।

उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितपः समुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति।

अर्थ – ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक श्रावक अपने निमित्त से बने हुए भोजन, उपकरण, शय्या और वस्त्र आदि से भी विरत होकर एकमात्र शाटक (धोती या चादर) को धारण करता है, भिक्षावृत्ति से पाणिपुट-द्वारा बैठकर भोजन करता है, रात्रिप्रतिमा आदि तपों के करने में उद्यत रहता है और दिन में आतापन योग आदि से रहित रहता है।

अणुव्रति-महाव्रतिनौ समितियुक्तौ संयमिनौ भवतः। समितिं विना विरतौ। तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे –

अर्थ – समिति युक्त अणुव्रती और महाव्रती पुरुष क्रमशः देशसंयमी और सकलसंयगी कहलाते हैं और समिति के बिना वे देशविरत और सर्वविरत कहलाते हैं।

जैसा कि षट्खण्डागम के वर्गणाखण्ड के बन्धन अधिकार में कहा हैं –

''संजम-विरईणं को भेदो? सममिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमी। समिदीहिं विणा महव्वयाणुव्वयाइं विरदी'' इति।

अर्थ – शंका – संयम और विरत में क्या भेद है?

समाधान – समिति-सहित महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं और समितियों के बिना वे महाव्रत और अणुव्रत विरति या व्रत कहे जाते हैं।

आद्यास्तु षट्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने॥२०॥

अर्थ – ऊपर कही गई ग्यारह प्रतिमाओं से जैनियों में आदि के छह प्रतिमाधारी जघन्य श्रावक, उसके पश्चात् तीन प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक और अन्तिम शेष दोनों प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक जिनशासन में कहे गये हैं॥२०॥

असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिंसासंभवेऽपि पक्षचर्यासाधकत्वैर्हिंसाऽ-भावः क्रियते। तत्राहिंसापरिणामत्वं पक्षः। धर्मार्थं देवतार्थं मन्त्रसिद्ध्यर्थमौषधार्थमाहारार्थं स्वभोगार्थं च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति। हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वंश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति। सकलगुणसम्पूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधि परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। एवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापमपगतं भवति।

अर्थ – असि मषि कृषि वाणिज्य आदि के द्वारा गृहस्थों के हिंसा संभव होने पर भी पक्ष चर्या और साधकपने के द्वारा हिंसा का अभाव कर दिया जाता है। सदा अहिंसारूप परिणाम रखने को पक्ष कहते हैं। गृहस्थ श्रावक धर्म के लिए, देवता के लिए, मंत्र-सिद्धि के लिए, औषधि के लिए, आहार के लिए और अपने भोग के लिए हिंसा नहीं करते हैं। कदाचित् हिंसा संभव होने पर प्रायश्चित्त विधि से विशुद्ध होता हुआ परिग्रह का परित्याग करने के समय अपने घर को और धर्म को अपने वंश में उत्पन्न हुए पुत्र आदि को समर्पण कर जब तक घर का परित्याग करता है, तब तक उसके व्रतों का परिपालन करना चर्या कही जाती है।

इस प्रकार जीवनपर्यन्त व्रत पालन कर, अन्त समय में सकल गुणों से परिपूर्ण होकर, वह जब शरीर-कम्पन, ऊर्ध्वश्वास संचलन और नेत्रोन्मीलन विधि का परिहार कर लोकाग्र निवासी सिद्धों में मन को लगाते हुए शरीर का परित्याग करता है, तब उसके साधकपना कहलाता है। इस प्रकार पक्षादि इन तीन धर्मकार्यों के द्वारा हिंसादि से संचित उसका पाप दूर हो जाता है।

जैनागमे चत्वार आश्रमाः। उक्तं चोपासकाध्ययने–

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद् विनिःसृताः॥२१॥

अर्थ – जैन आगम में चार आश्रम वर्णित हैं। जैसा कि उपासकाध्ययन में कहा है – ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक। जैनियों के ये चार आश्रम सातवें उपासकाध्ययन अंग से निकले हैं॥२१॥

तत्र ब्रह्मचारिणः पञ्चविधाः– उपनयावलम्बादीक्षागूढ-नैष्ठिकभेदेन। तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमाः गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति। अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणाऽऽगममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति। अदीक्षाब्रह्मचारिणः वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति। गूढ़ब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति। नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समाधिगतशिखालक्षित-शिरोलिङ्गाः गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिङ्गाः शुक्लरक्तवसनखण्ड-कौपीनलक्षितकटीलिङ्गाः स्नातका भिक्षावृत्तयो देवतार्चनपरा भवन्ति।

अर्थ – इनमें से ब्रह्मचारी पाँच प्रकार के हैं – उपनय, अवलम्ब, अदीक्ष, गूढ़ और नैष्ठिक। जो गणधर सूत्र (यज्ञोपवीत) को धारण कर

और समस्त आगमों का अभ्यास कर गृहस्थ धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे उपनय-ब्रह्मचारी हैं। जो क्षुल्लकरूप धारण करके आगमों का अभ्यास कर गृहवास को स्वीकार करते हैं, वे अवलम्बब्रह्मचारी हैं। जो ब्रह्मचारी के वेष को नहीं धारण करके और आगमों का अभ्यास करके गृहस्थधर्म में निरत होते हैं, वे अदीक्षाब्रह्मचारी हैं। जो कुमारावस्था में ही श्रमण (मुनि) वेष स्वीकार कर और समस्त आगमों का अभ्यास कर, बन्धुजनों के द्वारा आग्रह किये जाने पर, दु:सह परीषहों के द्वारा पीड़ित होने पर, अपने आप अथवा राजाओं के द्वारा कहे जाने पर परमेश्वररूप दिगम्बर वेष छोड़कर गृहवास में रत होते हैं, वे गूढ़ ब्रह्मचारी हैं।

जो समाधिगत शिखा (चोटी) रूप शिरोलिंग को धारण करते हैं, गणधरसूत्र रूप उरोलिंग को धारण करते हैं, भिक्षावृत्ति से आहार करते हैं और देवपूजा में सदा तत्पर रहते हैं - ऐसे स्नातक नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्यषट् कर्माणि भवन्ति। तत्रार्हत्पूजेज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुखं कल्पवृक्षोऽष्टाह्निक ऐन्द्रध्वज इति। तत्र नित्यमहो नित्यं यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद् गन्धपुष्पाक्षतादिनिवेदनं चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति। चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणपूजा, सैव महामहः सर्वतोभद्र इति। कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थैः सन्तर्प्य चक्रवर्त्तिभिः क्रियमाणो महः। अष्टाह्निकं प्रतीतम्। ऐन्द्रध्वज इन्द्रादिभिः क्रियमाणः। बलि स्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वामिनः पूजाभिषेककरणम्। पुनरप्येषां विकल्पाः अन्येऽपि पूजाविशेषाः सन्तीति।

अर्थ - इज्या (पूजा), वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये गृहस्थों के छह आर्य कर्म करने योग्य होते हैं। अरहंतदेव की पूजा

करना इज्या है। वह पाँच प्रकार की है – नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पवृक्षमह, अष्टाह्निकमह और इन्द्रध्वजमह।

नित्य अपनी शक्ति के अनुसार अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनभवनों के लिए चढ़ाना, जिनदेव की पूजन करना, प्रतिमा और चैत्यालय बनवा करके खेत आदि का राज्यशासन के नियमानुसार दान देना और मुनिजनों का पूजन करना नित्यमह है।

मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो पूजा की जाती है, वह चतुर्मुखमह है। उसे ही महामह और सर्वतोभद्रमह भी कहते हैं।

याचकजनों की याचना को द्रव्य द्वारा सन्तुष्ट कर चक्रवर्ती सम्राटों के द्वारा की जानेवाली पूजा कल्पवृक्षमह कहलाती है। अष्टाह्निक पर्व में की जानेवाली पूजा अष्टाह्निकमह है, जो सुप्रसिद्ध है।

इन्द्र आदि के द्वारा की जानेवाली पूजा ऐन्द्रध्वज कहलाती है। इनके अतिरिक्त नैवेद्य समर्पण करना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओं में तीन जगत के स्वामी जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, अभिषेक करना आदि भी पूजन के ही अन्तर्गत हैं।

उक्त पाँचों प्रकार की पूजाओं के अन्य भी भेद हैं जो सब पूजा विशेष ही हैं।

वार्ताऽसिमषिकृषिवाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्ध-वृत्त्याऽर्थोपार्जनमिति। दत्तिः दयापात्रसमसकलभेदाच्चतुर्विधा। तत्र दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम्। पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञान-संयमोपकरणादिदानं च। समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानम्। स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानम्। सकलदत्तिरात्मी-यस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं समर्प्य

प्रदानमन्वयदत्तिश्च सैव। स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च। संयमः पञ्चाणुव्रतप्रवर्तनम्। तपोऽनशनादिद्वादश-विधानुष्ठानम्।

अर्थ – असि मषि कृषि वाणिज्य आदि से और शिल्प कार्यों के द्वारा विशुद्ध वृत्ति से धनोपार्जन करने को वार्ता कहते हैं। दत्ति दान को कहते हैं। वह दया पात्र सम और सकल के भेद से चार प्रकार की है।

अनुकम्पा से अनुग्रह करने के योग्य प्राणियों के लिए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक अभयदान देना दयादत्ति है। महातपस्वी साधुओं को प्रतिग्रह-पूजादिपूर्वक निर्दोष आहार देना और ज्ञान-संयम के उपकरण आदि का देना पात्रदत्ति है। अपने ही समान क्रियाओं का आचरण करने वाले मित्र के लिए उत्तम निस्तारक गृहस्थाचार्य के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण, हस्ती, अश्व, रथ और रत्न आदि का दान देना समदत्ति है।

अपने समान व्यक्ति के अभाव में मध्यम पात्र श्रावक के लिए भी उक्त वस्तुओं का देना भी समदत्ति है। अपनी सन्तान-परम्परा चलाने के लिए पुत्र को या गोत्रज पुरुष को अपने द्वारा किये जाने वाले धर्मकार्य और धन को समर्पण करके सर्वस्व प्रदान करना सकलदत्ति है। इसे ही अन्वयदत्ति कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के पठन, पाठन और स्मरण करने को स्वाध्याय कहते हैं। पाँच अणुव्रतों का पालन करना संयम है और अनशनादि बारह प्रकार के तपों का आचरण करना तप कहलाता है।

इत्यार्यषट्कर्मनिरता गृहस्था द्विविधा भवन्ति - जातिक्षत्रिया-स्तीर्थक्षत्रियाश्चेति। तत्र जातिः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्र-भेदाच्चतुर्विधाः। तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवनविकल्पादनेकधा भिद्यन्ते।

अर्थ – इन उपर्युक्त छह प्रकार के आर्यकर्मों में निरत गृहस्थ दो

प्रकार के होते हैं – जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के भेद से जातिक्षत्रिय चार प्रकार के हैं। तीर्थक्षत्रिय अपनी आजीविका के भेदों से अनेक प्रकार के होते हैं।

वानप्रस्था अपरिग्रहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति।

अर्थ – जिन्होंने जिनरूप दिगम्बर वेष ग्रहण नहीं किया है ऐसे वस्त्रखण्ड के धारक और निरतिशय तप करने में सदा उद्यत पुरुष वानप्रस्थ कहलाते हैं।

भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहुधा भवन्ति–अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति। तत्रानगाराः सामान्यसाधव उच्यन्ते। यतय उपशम-क्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते। मुनयोऽवधिमनःपर्यय केवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते। ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधाः- राजब्रह्मदेवपरमभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाऽक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधि-ऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ताः कथ्यन्ते। परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते। अपि च –

अर्थ – जिनरूप को धारण करनेवाले भिक्षु कहलाते हैं। वे अनेक प्रकार के होते हैं। यथा – अनगार यति मुनि और ऋषि। सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं। उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ और कर्मों की उपशमना एवं क्षपणा करने में उद्यत साधु यति कहे जाते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहे जाते हैं।

ऋद्धि-प्राप्त साधु ऋषि कहलाते हैं।

वे चार प्रकार के होते हैं – राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि के धारक साधु राजर्षि कहलाते हैं। बुद्धि और औषधिऋद्धि से युक्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। आकाशगमनऋद्धि से संयुक्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं और केवलज्ञानी परमर्षि कहे जाते हैं।

जैसा कि कहा है –

देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धि-
रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः।
राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति-
प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥२२॥

अर्थ – देशप्रत्यक्ष के धारक और केवलज्ञान-धारक मुनि कहे जाते हैं। जिन्हें ऋद्धि प्रकट हुई है, वे ऋषि कहे गये हैं। दोनों श्रेणियों पर आरूढ़ साधु यति हैं और शेष सर्व साधु अनगार कहे गये हैं। ऋद्धि धारक साधु भी चार प्रकार के हैं – विक्रिया और अक्षीणशक्ति को प्राप्त साधु राजर्षि हैं, बुद्धि और औषधिऋद्धि के स्वामी ब्रह्मर्षि हैं। आकाश में गमन-कुशल साधु देवर्षि हैं और विश्ववेत्ता सर्वज्ञ परमर्षि जानना चाहिए ॥२२॥

उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या। स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानामुच्छ्वासनिःश्वासस्य च कदलीघातस्वपाकच्युतिकारणवशात्संक्षयो मरणम्। तच्च द्विविधम्- नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनम्। अत्र पुनस्तद्भवमरणं ग्राह्यम्। मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी।

बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतिक्रियायां धर्मार्थं तनुत्यजनं सल्लेखना। ततो नित्यप्रार्थितसमाधिमरणे यथाशक्ति प्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेषे सति तपःस्थो यथा शीतोष्णादौ हर्षविषादं न करोति, तथा सल्लेखनां कुर्वाणः शीतोष्णादौ हर्षविषादमकृत्वा स्नेहं सङ्गवैरादिकं परिग्रहं

च परित्यज्य विशुद्धचित्तः स्वजनपरिजने क्षन्तव्यं निःशल्यं च प्रियवचनैर्विधाय विगतमानकषायः कृतकारितानुमतमेनः सर्वमालोच्य गुरौ महाव्रतमामरणमारोप्यारतिदैन्यविषादभय-कालुष्यादिकमपहाय सत्त्वोत्साहमुदीर्य श्रुतामृतेन मनः प्रसाद्य क्रमेणाहारं परिहाय ततः स्निग्धपानं तदनन्तरं खरपानं तदनु चोपवासं कृत्वा गुरोः पादमूले पञ्चनमस्कारमुच्चारयन् पञ्चपरमेष्ठिनां गुणान् स्मरन् सर्वयत्नेन तनुं त्यजेत्। इयं सल्लेखना संयतस्यापि।

अर्थ – उपर्युक्त सभी प्रकार के उपासकों (श्रावकों) को मारणान्तिक सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिए। कदलीघात से अथवा अपना विपाककाल पूर्ण हो जाने के कारणवश से अपने परिणामों के द्वारा पूर्वभव में उपार्जित आयुकर्म का, स्पर्शन आदि इन्द्रियों का, मनोबल, वचन बल, कायबल का और श्वासोच्छ्वास का क्षय होना मरण है।

वह दो प्रकार का है – नित्यमरण और तद्भवमरण।

प्रतिसमय अपने आयुकर्म के निषेकों की निर्वृत्ति रूप निर्जरा होने को नित्यमरण कहते हैं।

नवीन भव की प्राप्ति और उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भव के विनाश को तद्भवमरण कहते हैं। यहाँ पर तद्भवमरण का ग्रहण करना चाहिए।

मरण का अन्त काल जिसका प्रयोजन है – ऐसी सल्लेखना को मारणान्तिकी कहते हैं।

बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रम से उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना सल्लेखना कहलाती है।

निःप्रतीकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर और बुढ़ापा आ जाने पर धर्म की रक्षा के लिए शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। इसलिए आवश्यकादि करते समय नित्य प्रार्थना किये जानेवाले समाधिमरण के अवसर पर यथाशक्ति प्रयत्न करके और उस समय शीत-उष्ण आदि

परीषहों के प्राप्त होने पर जैसे तपश्चर्या में स्थित साधु शीत-उष्णादि की बाधा होने पर हर्ष-विषाद नहीं करता है, उसी प्रकार सल्लेखना को करता हुआ श्रावक भी हर्ष-विषाद न करके, सर्वपरिजनों से स्नेह, शत्रुओं से बैर, साथियों की संगति और परिग्रह का परित्याग कर विशुद्ध चित्त होकर स्वजन और परिजनों को निःशल्य होकर प्रिय वचनों से क्षमा करे और क्षमा माँगे।

पुनः मानकषाय से रहित होकर कृत कारित और अनुमोदना से अपने सर्व पापों की गुरु के समीप आलोचना करके मरणपर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करके अरति, दीनता, विषाद, भय और कालुष्य आदि को दूर कर बल और उत्साह को प्रकट कर श्रुतवचनामृत से मन को प्रसन्न करके क्रम से आहार को घटाकर स्निग्ध पान प्रारंभ करे।

तदनन्तर स्निग्ध पान को घटाकर खरपान प्रारंभ करे और तत्पश्चात् खरपान को भी घटाकर और यथाशक्ति कुछ दिन तक उपवास करके गुरु के पादमूल में रहते हुए पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते और पंच परमेष्ठियों के गुणों का स्मरण करते हुए पूर्ण सावधानी के साथ शरीर का त्याग करे। इस सल्लेखना का धारण साधु के भी होता है।

अथ सल्लेखनाया मरणविशेषोत्पादनसमर्थाया असंक्लिष्टचित्तेनारभ्यायाः, पञ्चातीचारा भवन्ति – जीविताशंसा मरणाशंसा मित्रानुरागः सुखानुबन्धः निदानं चेति।

तत्र शरीरमिदमवश्यं जलबुद्बुदवदनित्यमस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा। आशंसाऽऽकांक्षणमभिलाष इत्यनर्थान्तरम् रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्त जीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानं मरणाशंसा। व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादि सुकृतं बाल्ये सहपांशुक्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणं मित्रानुरागः। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। विषयसुखोत्कर्षाभिलाष-

भोगाकांक्षतया नियतं चित्तं दीयते तस्मिन् तेनेति वा निदानमिति।

अर्थ – मरण विशेष के उत्पादन में समर्थ और संक्लेश-रहित चित्त से आरंभ की गई इस सल्लेखना के पाँच अतीचार इस प्रकार हैं – जीविताशंसा, मरणांशसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान।

यह शरीर अवश्य ही हेय है, जल के बबूले के समान अनित्य है, यह जानते हुए भी इसका अवस्थान कैसे हो, इस प्रकार जीने के प्रति आदर रखना जीविताशंसा है। आशंसा, आकांक्षा और अभिलाषा – ये सब एकार्थक नाम हैं।

रोग या उपद्रव के आ जाने से आकुलित होकर जीवन में संक्लेश प्राप्त होने पर मरण के प्रति चित्त को लगाना मरणाशंसा है।

जो व्यसन (कष्ट) के समय सहायक और उत्सव के समय हर्ष मनानेवाले, तथा अन्य अनेक प्रकार सुकृत के करनेवाले, बचपन में धूलि पर साथ खेलने वाले इत्यादि नाना प्रकार के मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है।

मैंने अपने जीवन में ऐसे भोजन किये, ऐसी शय्याओं पर शयन किया, ऐसे खेल खेले, इत्यादि पूर्वकालीन प्रीति विषयक बातों को बार-बार याद करना सुखानुबन्ध है।

उत्कृष्ट विषयसुख पाने की अभिलाषा और भोगों की आकांक्षा से जिसके लिए या जिसमें नियत रूप से चित्त को दिया जाये अर्थात् लगाया जाये, उसे निदान कहते हैं।

॥ इति श्रीमच्चामुण्डरायप्रणीते चारित्रसारे सागारधर्मः समाप्तः ॥

इस प्रकार श्रीमच्चामुण्डराय विरचित चारित्रसार में
सागार धर्म का वर्णन समाप्त हुआ।

○○○

सिरि वसुणंदि आइरियविरइय

वसुनन्दि श्रावकाचार

सुरवइतिरीडमणिकिरणवारिधाराहिसित्तपयकमलं[1]।
वरसयलविमलकेवलपयासियासेसतच्चत्थं ॥१॥

सायारो णायारो भवियाणं जेण[2] देसिओ धम्मो।
णमिऊण तं जिणिंदं सावयधम्मं परूवेमो ॥२॥

अर्थ – देवेन्द्रों के मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणरूपी जलधारा से जिनके चरण-कमल अभिषिक्त हैं, जो सर्वोत्कृष्ट निर्मल केवलज्ञान के द्वारा समस्त तत्त्वार्थ को प्रकाशित करनेवाले हैं और जिन्होंने भव्य जीवों के लिए श्रावकधर्म और मुनिधर्म का उपदेश दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके हम (वसुनन्दि) श्रावकधर्म का प्ररूपण करते हैं ॥१-२॥

विउलगिरि[3] पव्वए णं इंदभूइणा सेणियस्स जह सिट्ठं।
तह गुरुपरिवाडीए भणिज्जमाणं णिसामेह ॥३॥

अर्थ – विपुलाचल पर्वत पर (भगवान महावीर के समवसरण में) इन्द्रभूति नामक गौतम गणधर ने बिम्बसार नामक श्रेणिक महाराज को जिस प्रकार से श्रावकधर्म का उपदेश दिया है उसी प्रकार गुरु-परम्परा से प्राप्त वक्ष्यमाण श्रावकधर्म को, हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥३॥

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइ[4] भत्ते य।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरयम्मि ॥४॥

अर्थ – देशविरति नामक पंचम गुणस्थान में दर्शन, व्रत, सामायिक,

---

१. ध. जुअलं। २. द. जिणेण। ३. झ. द. इरि। ४. द. ध. राय।

प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, ये ग्यारह स्थान (प्रतिमा, कक्षा या श्रेणी-विभाग) होते हैं ॥४॥

एयारस ठाणाइं सम्मत्तविवज्जियस्स जीवस्स।
जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्तं सुणह वोच्छामि ॥५॥

अर्थ – उपर्युक्त ग्यारह स्थान यतः (चूँकि) सम्यक्त्व से रहित जीव के नहीं होते हैं, अतः (इसलिए) मैं सम्यक्त्व का वर्णन करता हूँ, सो हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥५॥

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६॥

अर्थ – आप्त (सत्यार्थ देव) आगम (शास्त्र) और तत्त्वों का शंकादि (पच्चीस) दोष-रहित जो अतिनिर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥६॥

अत्ता दोसविमुक्को पुव्वापरदोसवयिं वयणं।
तच्चाइं जीवदव्वाइ[5] याइं समयम्हि णेयाणि ॥७॥

अर्थ – आगे कहे जानेवाले सर्व दोषों से विमुक्त पुरुष को आप्त कहते हैं। पूर्वापर दोष से रहित (आप्त के) वचन को आगम कहते हैं और जीवद्रव्य आदिक तत्त्व हैं, इन्हें समय अर्थात् परमागम से जानना चाहिए ॥७॥

छुह-तण्हा[6] भय-दोसो राओ मोहो जरा रुजा चिंता।
मिच्चू[7] खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥८॥

णिद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अत्ता।
वयणं तस्स पमाणं [8]संतत्थपरूवयं जम्हा ॥९॥

---

५. ध. दिवाइं। ६. ध. तम्हा। ७. द. मच्चुस्सेओखेओ। ८. ध. सुत्तत्थ।

अर्थ – क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद, स्वेद (पसीना), अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद, ये अट्ठारह दोष कहलाते हैं, जो आत्मा इन दोषों से रहित है, वही आप्त कहलाता है। तथा उसी आप्त के वचन प्रमाण हैं, क्योंकि वे विद्यमान अर्थ के प्ररूपक हैं ॥८-९॥

जीवाजीवासव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
एयाइं सत्त तच्चाइं सद्दहंतस्स[1] सम्मत्तं ॥१०॥

अर्थ – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व कहलाते हैं और उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है ॥१०॥

जीवतत्त्व-वर्णन

सिद्धा संसारत्था दुविहा जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
असरीरा णंतचउट्ठय[2]ण्णिया णिव्वुदा सिद्धा ॥११॥

अर्थ – सिद्ध और संसारी, ये दो प्रकार के जीव जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं। जो शरीर-रहित हैं, अनन्त-चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से संयुक्त हैं, तथा जन्म-मरणादिक से निर्वृत्त हैं, उन्हें सिद्ध जीव जानना चाहिए ॥११॥

संसारत्था दुविहा थावर-तसभेयओ[3] मुणेयव्वा।
पंचविह थावरा खिदिजलग्गिवाऊवणप्फइणो ॥१२॥

अर्थ – स्थावर और त्रस के भेद से संसारी जीव दो प्रकार के जानना चाहिए।

इनमें स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं – पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ॥१२॥

---

१. ध. सद्दहणं। २. ध.-ट्ठयणिया। ३. ध. भेददो।

पज्जत्तापज्जत्ता बायर-सुहुमा णिगोय णिच्चियरा।
पत्तेय-[४]पइट्ठियरा थावरकाया अणेयविहा॥१३॥

अर्थ – पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म, नित्यनिगोद-इतरनिगोद, प्रतिष्ठितप्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक के भेद से स्थावरकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं॥१३॥

वि-ति-चउ-पंचिंदियभेयओ तसा चउव्विहा मुणेयव्वा।
पज्जत्तियरा सण्णियरभेयओ हुंति बहुभेया॥१४॥

अर्थ – द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से त्रसकायिक जीव चार प्रकार के जानना चाहिए। ये ही त्रस जीव पर्याप्त-अपर्याप्त और संज्ञी-असंज्ञी आदि प्रभेदों से अनेक प्रकार के होते हैं॥१४॥

आउ-कुल-जोणि-मग्गण-गुण-जीवुवओग[५]-पाण-सण्णाहिं।
णाऊण जीवदव्वं सद्दहणं होइ कायव्वं॥१५॥

अर्थ – आयु, कुल, योनि, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवसमास, उपयोग, प्राण और संज्ञा के द्वारा जीवद्रव्य को जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए॥१५॥

अजीवतत्त्व-वर्णन

दुविहा अजीवकाया उ रूविणो[६] अरूविणो मुणेयव्वा।
खंधा देस-पएसा अविभागी रूविणो चदुधा॥१६॥

सयलं मुणेहि[७] खंधं अद्धं देसो पएसमद्धद्धं।
परमाणू अविभागी पुग्गलदव्वं जिणुद्दिट्ठं॥१७॥

अर्थ – (विशेष अर्थ के लिए परिशिष्ट देखिये) अजीवद्रव्य को रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का जानना चाहिए। इनमें रूपी

४. झ. ध. पयट्ठियरा। ५. द. ओय। ६. ध. रूविणोऽरूविणो। ७. द. ध. मुणेहि।

अजीवद्रव्य स्कंध, देश, प्रदेश और अविभागी के भेद से चार प्रकार का होता है। सकल पुद्गलद्रव्य को स्कंध, स्कंध के आधे भाग को देश, आधे के आधे को अर्थात् देश के आधे को प्रदेश और अविभागी अंश को परमाणु जानना चाहिए, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥१६-१७॥

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू।
अइथूलथूलथूलं सुहुमं सुहुमं च[८] अइसुहमं[९] ॥१८॥

अर्थ - अतिस्थूल (बादर-बादर), स्थूल (बादर), स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म, इस प्रकार पृथिवी आदिक के छः भेद होते हैं। (इन छहों के दृष्टान्त इस प्रकार हैं - पृथिवी अतिस्थूल पुद्गल है। जल स्थूल है। छाया स्थूल-सूक्ष्म है। चार इन्द्रियों के विषय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल हैं। कर्म सूक्ष्म हैं और परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है) ॥१८॥

चउविहमरूविदव्वं धम्माधम्मंवराणि कालो य।
गइ-ठाणुग्गहणलक्खणाणि तह वट्टण[१०]गुणो य ॥१९॥

अर्थ - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार प्रकार के अरूपी अजीवद्रव्य हैं। इनमें आदि के तीन क्रमशः गतिलक्षण, स्थितिलक्षण और अवगाहन लक्षण वाले हैं तथा काल वर्तनालक्षण है ॥१९॥

---

८. चकारात् 'सुहुमथूलं' ग्राह्यम्।

९. मुद्रित पुस्तक में इस गाथा के स्थान पर निम्न दो गाथाएँ पाई जाती हैं -

अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धराइयं होइ छब्भेयं ॥१८॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपरमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥१९॥

ये दोनों गाथाएं गो० जीवकांड में क्रमशः ६०२ और ६०१ नं० पर कुछ शब्दभेद के साथ पाई जाती हैं।

१०. झ. ध. वत्तण०।

परमत्थो ववहारो दुविहो कालो जिणेहिं पण्णत्तो।
लोयायासपएसट्ठियाणवो मुक्खकालस्स ॥२०॥

गोणसमयस्स[1] एए कारणभूया जिणेहिं णिद्दिट्ठा।
तीदाणागदभूओ ववहारो णंतसमओ य ॥२१॥

अर्थ – जिनेन्द्र भगवान ने कालद्रव्य दो प्रकार का कहा है– परमार्थकाल और व्यवहारकाल। मुख्यकाल के अणु लोकाकाश के प्रदेशों पर स्थित हैं। इन कालाणुओं को व्यवहारकाल का कारणभूत जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। व्यवहारकाल अतीत और अनागत–स्वरूप अनन्त समयवाला कहा गया है ॥२०–२१॥

परिणामि-जीव-मुत्ताइएहि णाऊण दव्वसब्भावं।
जिणवयणमणुसरंतेहि थिरमइ होइ कायव्वा ॥२२॥

अर्थ – परिणामित्व, जीवत्व और मूर्त्तत्व के द्वारा द्रव्य के सद्भाव को जानकर जिन भगवान् के वचनों का अनुसरण करते हुए भव्य जीवों को अपनी बुद्धि स्थिर करना चाहिए ॥२२॥

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य।
णिच्चं कारणकत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो ॥२३॥

दुण्णि य एयं एयं पंच य तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं मूलस्स य उत्तरे णेयं ॥२४॥

अर्थ – उपर्युक्त छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल – ये दो द्रव्य परिणामी हैं। एक जीवद्रव्य चेतन है और सब द्रव्य अचेतन हैं। एक पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और सब द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश – ये पाँच द्रव्य प्रदेशयुक्त हैं, इसीलिए बहुप्रदेशी या अस्तिकाय कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय,

---

१. व्यवहारकालस्य।

अधर्मास्तिकाय और आकाश - ये तीन द्रव्य एक-एक (और एक क्षेत्रावगाही) हैं। एक आकाशद्रव्य क्षेत्रवान् है अर्थात् अन्य द्रव्यों को क्षेत्र (अवकाश) देता है। जीव और पुद्गल - ये दो द्रव्य क्रियावान् हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल - ये चार द्रव्य नित्य हैं; (क्योंकि इनमें व्यंजनपर्याय नहीं है।) पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल - ये पाँच द्रव्य कारणरूप हैं। एक जीवद्रव्य कर्त्ता है। एक आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है। ये छहों द्रव्य एक क्षेत्र में रहनेवाले हैं, तथापि एक द्रव्य का दूसरे में प्रवेश नहीं है। इस प्रकार छहों मूल द्रव्यों के उपर्युक्त उत्तर गुण जानना चाहिए॥२३-२४॥

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था॥२५॥

अर्थ - पर्याय के दो भेद हैं - अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म है, अवाय (ज्ञान) विषयक है, अतः शब्द से नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षण में बदलती है, किन्तु व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्द से कही जा सकती हैं और चिरस्थायी है॥२५॥

परिणामजुदो जीवो गइगमणुवलंभओ असंदेहो।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं॥२६॥

अर्थ - जीव परिणामयुक्त अर्थात् परिणामी है; क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियों में निःसन्देह गमन पाया जाता है। इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायों के परिणमन देखे जाने से पुद्गल को परिणामी जानना चाहिए॥२६॥

वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा।
अत्थपरिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था॥२७॥

अर्थ - धर्मादिक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश

और काल – ये चार द्रव्य व्यंजनपर्याय के अभाव से अपरिणामी कहलाते हैं, किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं; क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्यों में होती हैं ॥२७॥

जीवो हु जीवदव्वं एक्कं चिय चेयणाचुया सेसा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं रूवादिविलोयणा ण सेसाणि ॥२८॥

अर्थ – एक जीवद्रव्य ही जीवत्व धर्म से युक्त है, और शेष सभी द्रव्य चेतना से रहित हैं। एक पुद्गलद्रव्य ही मूर्त्तिक है, क्योंकि, उसी में ही रूप, रसादिक देखे जाते हैं। शेष समस्त द्रव्य अमूर्त्तिक हैं, क्योंकि उनमें रूपादिक नहीं देखे जाते हैं ॥२८॥

सपएस पंच कालं मुत्तूण पएससंचया णेया।
अपएसी खलु कालो पएसबंधच्चुदो जम्हा ॥२९॥

अर्थ – कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए; क्योंकि उनमें प्रदेशों का संचय पाया जाता है। कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योंकि, वह प्रदेशों के बंध या समूह से रहित है, अर्थात् कालद्रव्य के कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं ॥२९॥

धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा।
ववहारकाल-पुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते ॥३०॥

अर्थ – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीनों द्रव्य एक-स्वरूप हैं, अर्थात् अपने स्वरूप या आकार को बदलते नहीं हैं, क्योंकि इन तीनों द्रव्यों के प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात् समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। व्यवहारकाल, पुद्गल और जीव, ये तीन द्रव्य अनेकस्वरूप हैं, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते हैं ॥३०॥

आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणियं।
सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा ॥३१॥

अर्थ – एक आकाशद्रव्य ही क्षेत्रवान है, क्योंकि उसका अवगाहन

लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं हैं, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण नहीं पाया जाता है ॥३१॥

[1]सक्किरिय जीव-पुग्गल गमणागमणाइ-किरियउवलंभा।
सेसाणि पुण वियाणसु किरियाहीणाणि तदभावा ॥३२॥

अर्थ – जीव और पुद्गल ये दो क्रियावान् हैं, क्योंकि इनमें गमन, आगमन आदि क्रियाएँ पाई जाती हैं। शेष चार द्रव्य क्रिया-रहित हैं, क्योंकि उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ नहीं पाई जाती हैं ॥३२॥

मुत्ता[2] जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये।
वंजणपरिणामचुया इयरे तं परिणयं पत्ता ॥३३॥

अर्थ – जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यों को छोड़कर शेष चारों द्रव्यों को परमागम में नित्य कहा गया है, क्योंकि उनमें व्यंजन-पर्याय नहीं पाई जाती हैं। जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यों में व्यंजन-पर्याय पाई जाती हैं, इसलिए वे परिणामी और अनित्य हैं ॥३३॥

जीवस्सुवयारकरा कारणभूया हु पंच कायाई।
जीवो सत्ता[3] भूओ सो ताणं[4] ण कारणं होइ ॥३४॥

अर्थ – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँचों द्रव्य जीव का उपकार करते हैं, इसलिए वे कारणभूत हैं। किन्तु जीव सत्तास्वरूप है, इसलिए वह किसी भी द्रव्य का कारण नहीं होता है ॥३४॥

कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फल[5] भोयओ जम्हा।
जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा[6] ॥३५॥

अर्थ – जीव शुभ और अशुभ कार्यों का कर्त्ता है, क्योंकि वह कर्मों के फल को प्राप्त होता है और इसलिए वह कर्मफल का भोक्ता है।

---

१. ध 'सक्किरिया पुणु जीवा पुग्गल गमणाइ'। २. झ. मोत्तुं, ब. मोत्तूं। ३. झ. ब. संतय०। ४. ब. ताण। ५. ब. फलयभोयओ। ६. द. कत्तारो, प. कत्तार

किन्तु शेष द्रव्य न कर्मों के कर्त्ता हैं और न भोक्ता ही हैं ॥३५॥

सव्वगदत्ता सव्वगमायासं णेव सेसगं दव्वं।
अप्परिणामादीहि य बोहव्वा ते पयत्तेण ॥३६॥

अर्थ – सर्वत्र व्यापक होने से आकाश को सर्वगत कहते हैं। शेष कोई भी द्रव्य सर्वगत नहीं है। इस प्रकार अपरिणामित्व आदि के द्वारा इन द्रव्यों को प्रयत्न के साथ जानना चाहिए ॥३६॥

[1]ताण पवेसो वि तहा णेओ अण्णेण्णमणुपवेसेण।
णिय-णियभावं पि सया एगीहुंता वि ण मुयंति ॥३७॥

अर्थ – यद्यपि ये छहों द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करके एक ही क्षेत्र में रहते हैं, तथापि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं जानना चाहिए। क्योंकि, ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाही हो करके भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ॥३७॥

अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णेसिं।
मेल्लंता[2] वि य णिच्चं सग-सगभावं ण वि चयसि[3] ॥३८॥

अर्थ – कहा भी है–छहों द्रव्य परस्पर में प्रवेश करते हुए, एक-दूसरे को अवकाश देते हुए और परस्पर मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ॥३८॥

आस्रवतत्त्व-वर्णन

मिच्छत्ताविरइ-कसाय-जोयहेऊहिं[4] आसवइ कम्मं।
जीवम्हि उवहिमज्झे जह सलिलं छिद्दणावाए ॥३९॥*

अर्थ – जिस प्रकार समुद्र के भीतर छेदवाली नाव में पानी आता

---

१. ध. 'ताणि', प. 'णाण'। २. झ. उक्तं। ३. पंचास्ति० गा० ७। ४. झ.-हेदूहि।

** मिथ्यात्वादिचतुष्केन जिनपूजादिना च यत्।*
कर्माशुभं शुभं जीवमास्पन्दे स्यात्स आस्रवः ॥१६॥ – गुण० श्राव०

है, उसी प्रकार जीव में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों के द्वारा कर्म आस्रवित होता है ॥३९॥

अरहंतभत्तियाइसु सुहोवओगेण आसवइ पुण्णं।
विवरीएण दु[1] पावं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥४०॥

अर्थ – अरहंतभक्ति आदि पुण्यक्रियाओं में शुभोपयोग के होने से पुण्य का आस्रव होता है। और विपरीत अशुभोपयोग से पाप का आस्रव होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥४०॥

बंधतत्त्व-वर्णन

[2]अण्णोण्णाणुपवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाणं।
सो पयडि-ट्ठिदि-अणुभव-पएसदो चउविहो बंधो ॥४१॥*

अर्थ – जीव के प्रदेश और कर्म के स्कन्धों का परस्पर में मिलकर एकमेक हो जाना बंध कहलाता है। वह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का होता है ॥४१॥

संवरतत्त्व-वर्णन

सम्मत्तेहिं वएहिं य कोहाइकसायणिग्गहगुणेहि।
जोगणिरोहेण तहा कम्मासवसंवरो होइ ॥४२॥**

अर्थ – सम्यग्दर्शन, व्रत और क्रोधादि कषायों के निग्रहरूप गुणों के द्वारा तथा योग-निरोध से कर्मों का आस्रव रुकता है अर्थात् संवर होता है ॥४२॥

---

१. व. उ। २. ध. अण्णुणा।

* *स्यादन्योऽन्यप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः।*
स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावकः ॥१७॥

** *सम्यक्त्वव्रतैः कोपादिनिग्रहाद्योगरोधतः।*
कर्मास्रवनिरोधो यः सत्संवरः स उच्यते ॥१८॥

निर्जरातत्त्व-वर्णन

सविवागा अविवागा दुविहा पुण णिज्जरा मुणेयव्वा।
सव्वेसिं जीवाणं पढमा विदिया तवस्सीणं॥४३॥*

जह रुद्धम्मि पवेसे सुस्सइ सरपाणियं रविकरेहिं।
तह आसवे णिरुद्धे तवसा कम्मं मुणेयव्वं॥४४॥

अर्थ – सविपाक और अविपाक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए। इनमें से पहली सविपाक निर्जरा सब संसारी जीवों के होती है, किन्तु दूसरी अविपाक निर्जरा तपस्वी साधुओं के होती है। जिस प्रकार नवीन जल का प्रवेश रुक जाने पर सरोवर का पुराना पानी सूर्य की किरणों से सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रव के रुक जाने पर संचित कर्म तप के द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए॥४३-४४॥

मोक्षतत्त्व-वर्णन

णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो।
तम्हि कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं॥४५॥**

अर्थ – समस्त कर्मों के क्षय हो जाने को जिनशासन में मोक्ष कहा गया है। उस मोक्ष के प्राप्त करने पर यह जीव अनन्त सुख का अनुभव करता है॥४५॥

णिद्देसं सामित्तं साहणमहियरण-ठिदि-विहाणाणि[१]।
एएहि सव्वभावा जीवादीया मुणेयव्वा॥४६॥

---

* *सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद् द्विधादिमा।*
संसारे सर्वजीवानां द्वितीया सुतपस्विनाम्॥१९॥ – *गुण० श्राव०*

** *निर्जरा-संवराभ्यां यो विश्वकर्मक्षयो भवेत्।*
स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मकः॥२०॥ – *गुण० श्राव०*

१. *निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। स्वामित्वमाधिपत्यम्। साधनमुत्पत्तिकारणम्। अधिकरणमधिष्ठानम्। स्थितिः कालपरिच्छेदः। विधानं प्रकारः।*

अर्थ – निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान – इन छह अनुयोग द्वारों से जीव आदिक सर्व पदार्थ जानना चाहिए ॥४६॥

सत्त वि तच्चाणि मए भणियाणि जिणागमाणुसारेण।
एयाणि सद्दहंतो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो ॥४७॥

अर्थ – (इनका विशेष परिशिष्ट में देखिये) ये सातों तत्त्व मैंने जिनागम के अनुसार कहे हैं। इन तत्त्वों का श्रद्धान करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ॥४७॥

सम्यक्त्व के आठ अंग

णिस्संका णिक्कंखा[1] णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल पहावणा चेव ॥४८॥

अर्थ – निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – ये सम्यक्त्व के आठ अंग होते हैं ॥४८॥

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा[2] उवसमो भत्ती।
[2]वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥४९॥

पाठान्तर–पूया अदण्णजणणं[3] अरुहाईणं पयत्तेण।
इच्चाइगुणा बहवो सम्मत्तविसोहिकारया भणिया।
जो उज्जमेदि एसु[4] सम्माइट्ठी जिणक्खादो ॥५०॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन होने पर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा – ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥४९॥ (पाठान्तर का अर्थ – अर्हन्तादिक की पूजा और गुणस्मरणपूर्वक निर्दोष

---

१. इ.झ. 'णिस्संकियणिक्कंखिय' इति पाठः। २. झ. गरुहा। ३. झ. ध. प. प्रतिषु गाथोत्तरार्धस्यायं पाठः 'पूया अवण्णजणणं अरुहाईणं पयत्तेण'। ४. अदोषोद्भावनम्।

स्तुति प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये।) उपर्युक्त आदि अनेक गुण सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करनेवाले कहे गये हैं। जो जीव इन गुणों की प्राप्ति में उद्यम करता है, उसे जिनेन्द्रदेव ने सम्यग्दृष्टि कहा है ॥५०॥

संकाइदोसरहिओ णिस्संकाइगुणजुयं परमं।
कम्मणिज्जरणहेऊ तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥५१॥

अर्थ – जो शंकादि दोषों से रहित है, नि:शंकादि परम गुणों से युक्त है और कर्म-निर्जरा का कारण है, वह निर्मल सम्यग्दर्शन है ॥५१॥

* अंगों में प्रसिद्ध होनेवालों के नाम

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ।
चंपाए णिक्कंखा वणिगसुदा णंतमइणामा ॥५२॥
णिव्विदिगिच्छो राओ उद्दायणु णाम रुइवरणयरे।
रेवइ महुरा णयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा ॥५३॥
ठिदियरणगुणपउत्तो मागहणयरम्हि वारिसेणो दु।
हथणापुरम्हि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥५४॥
उवगूहणजुत्तो जिणयत्तो तामलित्तणयरीए।
वज्जकुमारेण कया पहावणा चेव महुराए[1] ॥५५॥

अर्थ – राजगृह नगर में अंजन नामक चोर नि:शंकित अंग में प्रसिद्ध कहा गया है। चम्पानगरी में अनन्तमती नाम की वणिक्पुत्री नि:कांक्षित अंग में प्रसिद्ध हुई। रुचिवर नगर में उद्दायन नाम का राजा निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध हुआ। मथुरानगर में रेवती रानी अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध जानना चाहिए। मागधनगर (राजगृह) में वारिषेण नामक राजकुमार स्थितिकरण गुण को प्राप्त हुआ। हस्तिनापुर नाम के नगर में विष्णुकुमार मुनि ने वात्सल्य अंग प्रकट किया है। ताम्रलिप्तनगरी में

** झ. प्रतौ पाठोऽयमाधिकः–'अतो गाथाषट्कं भावसंग्रहग्रन्थात्। १. झ. 'एदे'।*

जिनदत्त सेठ उपगूहन गुण से युक्त प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगरी में वज्रकुमार ने प्रभावना अंग प्रकट किया है ॥५२-५५॥

एरिसगुणं अट्ठजुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य ॥५६॥

अर्थ – जो दृढ़चित्त होकर जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ उपर्युक्त इन आठ गुणों से युक्त सम्यक्त्व को धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥५६॥

पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥५७॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पाँच उदुम्बर फल सहित सातों ही व्यसनों का त्याग करता है, वह दर्शनश्रावक कहा गया है ॥५७॥

उंबर-वड-पिप्पल-पिंपरीय[1]-संधाण-तरुपसूणाइं।
णिच्चं तससंसिद्धाइं[2] ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥५८॥

अर्थ – ऊंबर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर फल – इन पाँचों उदुम्बर फल तथा सधानक (अचार) और वृक्षों के फूल – ये सब नित्य त्रस जीवों से संसिक्त अर्थात् भरे हुए रहते हैं, इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए ॥५८॥

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥५९॥*

अर्थ – जुआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी, परदार-सेवन – ये सातों व्यसन दुर्गति-गमन के कारणभूत पाप हैं ॥५९॥

---

१. द. पंपरीय। २. प. संहिद्धाइं।

* *द्यूतमध्वमिषं वेश्याखेटचौर्यपराङ्गना:।*
सप्तैव तानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधी: ॥११४॥ गुण० श्राव०।

द्यूतदोष-वर्णन

जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण-लोहा[3] य।
एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं ॥६०॥

अर्थ – जूआ खेलनेवाले पुरुष के क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चारों कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है ॥६०॥

पावेण तेण जर-मरण-वीचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि।
चउगइगमणावत्तम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ॥६१॥

अर्थ – उस पाप के कारण यह जीव जन्म, जरा, मरणरूपी तरंगोंवाले, दुःखरूप सलिल से भरे हुए और चतुर्गति-गमनरूप आवर्तों (भँवरों) से संयुक्त ऐसे संसार-समुद्र में परिभ्रमण करता है ॥६१॥

तत्थ वि दुक्खमणंतं छेयण-भेयण विकत्तणाईणं।
पावइ सरणविरहिओ[4] जूयस्स फलेण सो जीवो ॥६२॥

अर्थ – उस संसार में जूआ खेलने के फल से यह जीव शरण-रहित होकर छेदन, भेदन, कर्त्तन आदि के अनन्त दुःख को पाता है ॥६२॥

ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा।
जूवंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं बहुयाइं ॥६३॥

अर्थ – जूआ खेलने से अन्धा हुआ मनुष्य इष्ट-मित्र को कुछ नहीं गिनता है, न गुरु को, न माता को और न पिता को ही कुछ समझता है, किन्तु स्वच्छन्द होकर पापमयी बहुत से अकार्यों को करता है ॥६३॥

सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो।
माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स ॥६४॥

---

३. झ. 'लोहो' इति पाठः। ४. व. विरहियं इति पाठः।

अर्थ – जूआ खेलने वाला पुरुष स्वजन में, परजन में, स्वदेश में, परदेश में, सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है। जूआ खेलने वाले का विश्वास उसकी माता तक भी नहीं करती है ॥६४॥

अग्गि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं थोवं कुणंति[1] इहलोए।
दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भयसयसहस्सेसु ॥६५॥

अर्थ – इस लोक में अग्नि, विष, चोर और सर्प तो अल्प दुःख देते हैं, किन्तु जूआ खेलना मनुष्य के हजारों लाखों भवों में दुःख को उत्पन्न करता है ॥६५॥

अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिंदिएहिं वेएइ।
जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥६६॥

अर्थ – आँखों से रहित मनुष्य यद्यपि देख नहीं सकता है, तथापि शेष इन्द्रियों से तो जानता है, परन्तु जूआ खेलने में अन्धा हुआ मनुष्य सम्पूर्ण इन्द्रियों वाला हो करके भी किसी के द्वारा कुछ नहीं जानता है ॥६६॥

अलियं करेइ सवहं जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्ठं।
पासम्मि बहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो ॥६७॥

अर्थ – वह झूठी शपथ करता है, झूठ बोलता है, अति दुष्ट वचन कहता है और क्रोधान्ध होकर पास में खड़ी हुई बहिन, माता और बालक को भी मारने लगता है ॥६७॥

ण य भुंजइ आहारं णिद्दं ण लहेइ रत्ति-दिण्णं ति।
कत्थ वि ण कुणेइ रइं अत्थइ चिंताअरो[2] णिच्चं ॥६८॥

अर्थ – जुआरी मनुष्य चिन्ता से न आहार करता है, न रात-दिन नींद लेता है, न कहीं पर किसी भी वस्तु से प्रेम करता है, किन्तु निरन्तर

---

१. ब. 'करंति' इति पाठः। २. झ. –'वरो' इति पाठः।

चिन्तातुर रहता है ॥६८॥

इच्चेवमाइबहवो दोसे[1] णाऊण जूयरमणम्मि।
परिहरियव्वं णिच्चं दंसणगुणमुव्वहंतेण ॥६९॥

अर्थ – जुआ खेलने में उक्त अनेक भयानक दोष जान करके दर्शनगुण को धारण करने वाले अर्थात् दर्शन प्रतिमायुक्त उत्तम पुरुष को जुआ का नित्य ही त्याग करना चाहिए ॥६९॥

मद्यदोष-वर्णन

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७०॥

अर्थ – मद्य-पान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्यों को करता है और इसीलिए इस लोक तथा परलोक में अनन्त दुःखों को भोगता है ॥७०॥

अइलंघिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाययंगणे[2] मत्तो।
पडियस्य सारमेया वयणं विलिहंति जिब्भाए ॥७१॥

अर्थ – मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर बेसुध होकर रथ्यांगण (चौराहे) में गिर पड़ता है और इस प्रकार पड़े हुए उसके (लार बहते हुए) मुख को कुत्ते जीभ से चाटने लगते हैं ॥७१॥

उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणंति तो समुल्लवइ।
पडिओ वि सुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई ॥७२॥

अर्थ – उसी दशा में कुत्ते उस पर उच्चार (टट्टी) और प्रस्रवण (पेशाब) करते हैं। किन्तु वह मूढ़मति उसका स्वाद लेकर पड़े-पड़े ही पुनः कहता है कि सुरा (शराब) बहुत मीठी है, मुझे पीने को और दो ॥७२॥

---

१. झ. 'दोषा' इति पाठः। २. ब. रत्थाइयंगणे।

जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं।
लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ॥७३॥

अर्थ – उस बेसुध पड़े हुए मद्यपायी के पास जो कुछ द्रव्य होता है, उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं। पुनः कुछ संज्ञा को प्राप्तकर अर्थात् कुछ होश में आकर गिरता-पड़ता इधर-उधर दौड़ने लगता है ॥७३॥

जेणज्ज मज्झ दव्वं गहियं दुट्ठेण से जमो कुद्धो।
कहिं जाइ सो जिवंतो सीसं छिंदामि खग्गेण ॥७४॥

अर्थ – और इस प्रकार बकता जाता है कि जिस बदमाश ने आज मेरा द्रव्य चुराया है और मुझे क्रुद्ध किया है, उसने यमराज को ही क्रुद्ध किया है, अब वह जीता बचकर कहाँ जायगा, मैं तलवार से उसका शिर काटूँगा ॥७४॥

एवं सो गज्जंतो कुविओ गंतूण मंदिरं णिययं।
धित्तूण लउडि सहसा रुट्ठो भंडाइं फोडेइ ॥७५॥

अर्थ – इस प्रकार कुपित वह गरजता हुआ अपने घर जाकर लकड़ी को लेकर रुष्ट हो सहसा भांडों (बर्तनों) को फोड़ने लगता है ॥७५॥

णिययं पि सुयं बहिणिं अणिच्छमाणं बला विधंसेइ।
जंपइ अजंपिज्जं ण विजाणइ किं प मयमत्तो ॥७६॥

अर्थ – वह अपने ही पुत्र को, बहिन को, और अन्य भी सबको-जिनको अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं समझता है, बलात् मारने लगता है और नहीं बोलने योग्य वचनों को बकता है। मद्य-पान से प्रबल उन्मत्त हुआ वह भले-बुरे को कुछ भी नहीं जानता है ॥७६॥

इय अवराइं बहुसो काऊण बहूणि लज्जणिज्जाणि।
अणुबंधइ बहु पावं मज्जस्स वसंगदो संतो ॥७७॥

अर्थ – मद्यपान के वश को प्राप्त हुआ वह इन उपर्युक्त कार्यों को तथा और भी अनेक लज्जा-योग्य निर्लज्ज कार्यों को करके बहुत पाप का बंध करता है ॥७७॥

पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे।
पावइ अणंतदुक्खं पडिओ संसारकंतारे ॥७८॥

अर्थ – उस पाप से वह जन्म, जरा और मरणरूप श्वापदों (सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवरों से) आकीर्ण अर्थात् भरे हुए संसाररूपी कान्तार (भयानक वन) में पड़कर अनन्त दुःख को पाता है ॥७८॥

एवं बहुप्पयारं दोसं णाऊण[1] मज्जपाणम्मि।
मण-वयण-काय-कय-कारिदाणुमोएहिं वज्जिज्जो ॥७९॥

अर्थ – इस तरह मद्यपान में अनेक प्रकार के दोषों को जान करके मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना से उसका त्याग करना चाहिए ॥७९॥

मधुदोष-वर्णन

जह मज्जं तह य महू जणयदि पावं णरस्स अइबहुयं।
असुइ व्व णिंदणिज्जं वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥८०॥

अर्थ – मद्यपान के समान मधु-सेवन भी मनुष्य के अत्यधिक पाप को उत्पन्न करता है। अशुचि (मल-मूत्र वमनादिक) के समान निंदनीय इस मधु का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥८०॥

दट्ठूण असणमज्झे पडियं जइ मच्छियं पि णिट्ठिवइ।
कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं[2] णिग्घिणो पिबइ ॥८१॥

अर्थ – भोजन के मध्य में पड़ी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुँह में रखे हुए ग्रास को थूक देता है तो

---

१. झ. नाऊण। २. झ. निर्यासं निश्चोटनं निबोडनमिति। प. निःपीलनम्। ध. निर्यासम्।

आश्चर्य है कि वह मधु-मक्खियों के अंडों के निर्दयता पूर्वक निकाले हुए घृणित रस को अर्थात् मधु को निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है ॥८१॥

भो भो जिब्भिंदियलुद्धयाणमच्छेरयं[२] पलोएह।
किमि मच्छियणिज्जासं महुं पवित्तं भणंति जदो ॥८२॥

अर्थ – भो-भो लोगो, जिह्वेन्द्रिय-लुब्धक (लोलुपी) मनुष्यों के आश्चर्य को देखो, कि लोग मक्खियों के रसस्वरूप इस मधु को कैसे पवित्र कहते हैं ॥८२॥

लोगे वि सुप्पसिद्धं बारहं गामाइ जो डहइ अदओ।
तत्तो सो अहिययरो पाविट्ठो जो महुं हणइ ॥८३॥

अर्थ – लोक में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गाँवों को जलाता है, उससे भी अधिक पापी वह है जो मधु-मक्खियों के छत्ते को तोड़ता है ॥८३॥

जो अवलेहइ[३] णिच्चं णिरयं[४] सो जाइ[५] णत्थि संदेहो।
एवं णाऊण[६] फुडं वज्जेयव्वं महुं तम्हा ॥८४॥

अर्थ – इस प्रकार के पाप-बहुल मधु को जो नित्य चाटता है-खाता है, वह नरक में जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ऐसा जानकर मधु का त्याग करना चाहिए ॥८४॥

मांसदोष-वर्णन

मंसं अमेज्झसरिसं किमिकुलभरियं दुगंधवीभच्छं।
पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कहं भोत्तुं ॥८५॥

अर्थ – मांस अमेध्य अर्थात् विष्टा के समान है, कृमि अर्थात्

---

२. झ. ध. मच्छेयर। ३. आस्वादयति। ४. झ. नियं। ५. प. जादि। ६. झ. नाऊण।

छोटे-छोटे कीड़ों के समूह से भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, बीभत्स है और पैर से भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खाने के लिए योग्य कैसे हो सकता है ॥८५॥

मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ।
जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥८६॥

अर्थ – मांस खाने से दर्प बढ़ता है, दर्प से वह शराब पीने की इच्छा करता है और इसी से वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार वह प्राय: ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषों को प्राप्त होता है ॥८६॥

लोइय[७] सत्थम्मि वि वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा।
भुवि मंसासणेण पडिया तम्हा ण पउंजए[८] मंसं ॥८७॥

अर्थ – लौकिक शास्त्र में भी ऐसा वर्णन किया गया है कि गगनगामी अर्थात् आकाश में चलनेवाले भी ब्राह्मण मांस के खाने से पृथ्वी पर गिर पड़े। इसलिए मांस का उपयोग नहीं करना चाहिए ॥८७॥

वेश्यादोष-वर्णन

कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारसियाणमुच्छिट्ठं।
सो भक्खेइ जो वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए[९] ॥८८॥

अर्थ – जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है, वह कारु अर्थात् लुहार, चमार, किरात (भील), चंडाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगों का जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी नीचे लोगों के साथ समागम करती है ॥८८॥

रत्तं णाऊण[१०] णरं सव्वस्सं[११] हरइ वंचणसएहिं।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥८९॥

---

७. ब. लोइयं। ८. इ. 'ण वज्जए', भ. 'ण पवज्जए' इति पाठः। ९. झ. ब. वेसाए। १०. झ. नाऊण, ११. ब. सव्वं सहरइ।

अर्थ – वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रवंचनाओं से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुष को अस्थि-चर्म परिशेष करके, अर्थात् जब उसमें हाड़ और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड़ देती है ॥८९॥

पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूणं णत्थि[3] मे अण्णो।
उच्चइ[4] अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥९०॥

अर्थ – वह एक पुरुष के सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर अर्थात् तुम्हारे सिवाय मेरा कोई स्वामी नहीं है। इसी प्रकार वह अन्य से भी कहती है और अनेक चाटुकारियाँ अर्थात् खुशामदी बातें करती है ॥९०॥

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं।
वेस्सा[5] कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो ॥९१॥

अर्थ – मानी, कुलीन और शूरवीर भी मनुष्य वेश्या में आसक्त होने से नीच पुरुषों की दासता (नौकरी या सेवा) को करता है और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याओं के द्वारा किये गये अनेकों अपमानों को सहन करता है ॥९१॥

जे मज्जमंसदोसा वेस्सा[6] गमणम्मि होंति ते सव्वे।
पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं ॥९२॥

अर्थ – जो दोष मद्य और मांस के सेवन में होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमन में भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवन के पाप को तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवन के विशेष अधम पाप को भी नियम से प्राप्त होता है ॥९२॥

पावेण तेण दुक्खं पावइ संसार-सायरे घोरे।
तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा[7] मण-वयण-काएहिं ॥९३॥

---

३. झ.ब. 'णत्थि' स्थाने 'तं ण' इति पाठः। ४. झ. वुच्चइ। ५, ६, ७. झ. ब. वेसा०।

अर्थ – वेश्या-सेवन-जनित पाप से यह जीव घोर संसार-सागर में भयानक दुखों को प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और काय से वेश्या का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥९३ ॥

पारद्धिदोष-वर्णन

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वणिओ गुणी जम्हा।
पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥९४॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन का प्रधान गुण यतः अनुकंपा अर्थात् दया कही गई है, अतः शिकार खेलने वाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है ॥९४॥

दट्ठूण मुक्ककेसं पलायमाणं तहा पराहुत्तं।
रद[८] धरियतिणं[९] सूरा कयापराहं वि ण हणंति ॥९५॥

अर्थ – जो मुक्त-केश हैं, अर्थात् भय के मारे जिनके रोंगटे (बाल) खड़े हुए हैं, ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दाँतों में तृण अर्थात् घास को दाबे हुए हैं, ऐसे अपराधी भी दीन जीवों को शूरवीर पुरुष नहीं मारते हैं ॥९५ ॥

णिच्चं पलायमाणो तिण[१०] चारी तह णिरवराहो वि।
कह णिग्घणो हणिज्जइ[११] आरण्णणिवासिणो वि मए ॥९६ ॥

अर्थ – भय के कारण नित्य भागने वाले, घास खाने वाले तथा निरपराधी और वनों में रहने वाले ऐसे भी मृगों को निर्दयी पुरुष कैसे मारते हैं? (यह महा आश्चर्य है!) ॥९६ ॥

गो-बंभणित्थिधायं परिहरमाणस्स होइ[१२] जह धम्मो।
सव्वेसिं जीवाणं दयाए[१३] ता किं ण सो हुज्जा ॥९७॥

---

८. झ. दंत०। ९. ब. तणं। १०. ब. तण०। ११. झ. ब. हणिज्जा। १२. ब. हवइ। १३. ब. दयायि।

अर्थ – यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री-घात का परिहार करने वाले पुरुष को धर्म होता है तो सभी जीवों की दया से वह धर्म क्यों नहीं होगा? ॥९७॥

गो-बंभण-महिलाणं विणिवाए हवइ जह महापावं।
तह इयरपाणिघाए वि होइ पावं ण संदेहो ॥९८॥

अर्थ – जिस प्रकार गौ, ब्राह्मण और स्त्रियों के मारने में महापाप होता है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों के घात में भी महापाप होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥९८॥

महु-मज्ज-मंससेवी पावइ पावं चिरेण जं घोरं।
तं एयदिणे पुरिसो लहेइ पारद्धि रमणेण ॥९९॥

अर्थ – चिरकाल तक मधु, मद्य और मांस का सेवन करने वाला जिस घोर पाप को प्राप्त होता है, उस पाप को शिकारी पुरुष एक दिन भी शिकार के खेलने से प्राप्त होता है ॥९९॥

संसारम्मि अणंतं दुक्खं पाउणदि तेण पावेण।
तम्हा विवज्जियव्वा पारद्धी देसविरएण ॥१००॥

अर्थ – उस शिकार खेलने के पाप से यह जीव संसार में अनन्त दु:ख को प्राप्त होता है। इसलिए देशविरत श्रावक को शिकार का त्याग करना चाहिए ॥१००॥

चौर्यदोष-वर्णन

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ॥१०१॥

अर्थ – पर द्रव्य को हरने वाला अर्थात् चोरी करने वाला मनुष्य इस लोक और परलोक में असाता-बहुल अर्थात् प्रचुर दु:खों से भरी हुई अनेक यातनाओं को पाता है, कभी भी सुख को नहीं देखता है ॥१०१॥

हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाणसव्वंगो।
चइऊण णिययगेहं[1] धावइ उप्पहेण संतत्तो[2] ॥१०२॥

अर्थ – पराये धन को हर कर भय-भीत हुआ चोर थर-थर काँपता है और अपने घर को छोड़कर संतप्त होता हुआ वह उत्पथ अर्थात् कुमार्ग से इधर-उधर भागता फिरता है ॥१०२॥

किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधगंतेण।
लुक्कइ पलाइ[3] पखलइ णिद्दं ण लहेइ भयविट्ठो[4] ॥१०३॥

अर्थ – क्या किसी ने मुझे देखा है अथवा नहीं देखा है, इस प्रकार धक्-धक् करते हुए हृदय से कभी वह चोर लुकता-छिपता है, कभी कहीं भागता है और इधर-उधर गिरता है तथा भयाविष्ट अर्थात् भयभीत होने से नींद नहीं ले पाता है ॥१०३॥

ण गणेइ माय-वप्पं गुरु-मित्तं सामिणं तवस्विं वा।
पबलेण[5] हरइ छलेण्णं किंचिण्णं[6] किंपि जं तेसिं ॥१०४॥

अर्थ – चोर अपने माता, पिता, गुरु, मित्र, स्वामी और तपस्वी को भी कुछ नहीं गिनता है; प्रत्युत जो कुछ भी उनके पास होता है, उसे भी बलात् या छल से हर लेता है ॥१०४॥

लज्जा तहाभिमाणं जस-सीलविणासमादणासं च।
परलोयभयं चोरो अगणंतो साहसं कुणइ ॥१०५॥

अर्थ – चोर लज्जा, अभिमान, यश और शील के विनाश को, आत्मा के विनाश को और परलोक के भय को नहीं गिनता हुआ चोरी करने का साहस करता है ॥१०५॥

हरमाणो परदव्वं दट्ठूणारक्खिएहिं तो सहसा।
रज्जूहिं बंधिऊणं धिप्पइ सो मोरबंधेण ॥१०६॥

---

१. ब. णिययप्रगेहं। २. झ. ब. संत्तट्ठो। ३. म. पलायमाणो। ४. झ. भयधत्थो, ब. झयवच्छो। ५. झ. ब. पच्चेलिउ। ६. झ. किं घणं, व. किं वणं।

अर्थ – चोर को पराया द्रव्य हरते हुए देखकर आरक्षक अर्थात् पहरेदार कोटपाल आदिक रस्सियों से बाँधकर, मोरबंध से अर्थात् कमर की ओर हाथ बाँधकर पकड़ लेते हैं ॥१०६॥

हिंडाविज्जइ टिंटे रत्थासु चढाविऊण खरपुट्ठिं।
वित्थारिज्जइ चोरो एसो त्ति जणस्स मज्झम्मि ॥१०७॥

अर्थ – और फिर उसे टिंटा अर्थात् जुआखाने या गलियों में घुमाते हैं और गधे की पीठ पर चढ़ाकर 'यह चोर है' – ऐसा लोगों के बीच में घोषित कर उसकी बदनामी फैलाते हैं ॥१०७॥

अण्णो वि परस्स धणं जो हरइ[1] सो एरिसं फलं लहइ।
एवं भणिऊण पुणो णिज्जइ पुर-बाहिरे तुरियं ॥१०८॥

अर्थ – और भी जो कोई मनुष्य दूसरे का धन हरता है, वह इस प्रकार फल को पाता है, ऐसा कहकर पुनः उसे तुरन्त नगर के बाहर ले जाते हैं ॥१०८॥

णेत्तुद्धारं अह पाणि-पायगहणं णिसुंभणं अहवा।
जीवंतस्स वि सूलावारोहणं कीरइ खलेहिं[2] ॥१०९॥

अर्थ – हाँ, ले जाकर खलजन उसकी आँखें निकाल लेते हैं अथवा हाथ-पैर काट डालते हैं अथवा जीता हुआ ही उसे शूली पर चढ़ा देते हैं ॥१०९॥

एवं पिच्छंता वि हु परदव्वं चोरियाइ गेण्हंति।
ण मुणंति किं पि सहियं पेच्छइ हो मोह[3] माहप्पं ॥११०॥

अर्थ – इस प्रकार के इहलौकिक दुष्फलों को देखते हुए भी लोग चोरी से पराये धन को ग्रहण करते हैं और अपने हित को कुछ भी

---

१. झ. हरेइ। २. ब. खिलेहिं। ३. ब. मोहस्स।

नहीं समझते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। हे भव्यो, मोह के माहात्म्य को देखो ॥११०॥

परलोए वि य चोरो चउगइ-संसार-सायर-निमण्णो।
पावइ दुक्खमणंतं तेयं परिवज्जए तम्हा ॥१११॥

अर्थ – परलोक में भी चोर चतुर्गतिरूप संसार-सागर में निमग्न होता हुआ अनन्त दुःख को पाता है, इसलिए चोरी का त्याग करना चाहिए ॥१११॥

परदारादोष-वर्णन

दट्ठूण परकलतं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं।
ण य किं पि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्जेइ ॥११२॥

अर्थ – जो निर्बुद्धि पुरुष परायी स्त्री को देखकर उसकी अभिलाषा करता है, सो ऐसा करने पर वह पाता तो कुछ नहीं है, केवल पाप का ही उपार्जन करता है ॥११२॥

णिस्ससइ रुयइ गायइ णिययसिरं हणइ महियले पडइ।
परमहिलमलभमाणो असप्पलावं पि जंपेइ ॥११३॥

अर्थ – परस्त्री-लम्पट पुरुष जब अभिलषित पर-महिला को नहीं पाता है, तब वह दीर्घ निःश्वास छोड़ता है, रोता है, कभी गाता है, कभी अपने शिर को फोड़ता है और कभी भूतल पर गिरता पड़ता है और असत्प्रलाप भी करता है ॥११३॥

चिंतेइ मं किमिच्छइ ण वेइ सा केण वा उवाएण।
'अण्णेमि' कहमि कस्स वि ण वेत्ति चिंताउरो सददं ॥११४॥

अर्थ – परस्त्री-लम्पट सोचता है कि वह स्त्री मुझे चाहती है अथवा नहीं चाहती है? मैं उसे किस उपाय से लाऊँ? किसी से कहूँ अथवा नहीं कहूँ? इस प्रकार निरन्तर चिन्तातुर रहता है ॥११४॥

ण य कत्थ वि कुणइ रइं मिट्ठं पि य भोयणं ण भुंजेइ।
णिद्दं पि अलहमाणो[1] अच्छइ विरहेण संतत्तो ॥११५॥

अर्थ – वह परस्त्री-लम्पटी कहीं पर भी रति को नहीं प्राप्त करता है, मिष्ट भी भोजन को नहीं खाता है और निद्रा को नहीं लेता हुआ वह सदा स्त्री-विरह से संतप्त बना रहता है ॥११५॥

लज्जाकुलमज्जायं[2] छंडिऊण मज्जाइभोयणं किच्चा।
परमहिलाणं चित्तं अमुणंतो पत्थणं कुणइ ॥११६॥

अर्थ – परस्त्री-लम्पटी लज्जा और कुल-मर्यादा को छोड़कर मद्य-मांस आदि निंद्य भोजन को करके परस्त्रियों के चित्त को नहीं जानता हुआ उनसे प्रार्थना किया करता है ॥११६॥

णेच्छंति जइ वि ताओ उवयारसयाणि कुणइ सो तह वि।
णिब्भच्छिज्जंतो पुण अप्पाणं झूरइ विलक्खो ॥११७॥

अर्थ – इतने पर भी यदि वे स्त्रियाँ उसे नहीं चाहती हैं, तो वह उनकी सैकड़ों खुशामदें करता है। फिर भी उनसे भर्त्सना किये जाने पर विलक्ष अर्थात् लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ वह अपने आपको झूरता रहता है ॥११७॥

अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बला धरेऊणं।
किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं ॥११८॥

अर्थ – यदि वह लम्पटी नहीं चाहने वाली किसी पर-महिला को जबर्दस्ती पकड़कर भोगता है तो वैसी दशा में वह उसमें क्या सुख पाता है? प्रत्युत दुःख को ही पाता है ॥११८॥

अह कावि पावबहुला असई णिण्णासिऊण णियसीलं।
सयमेव[3] पच्छियाओ[4] उवरोहवसेण अप्पाणं ॥११९॥

अर्थ – यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शील को नाश

---

१. अलभमाणो। २. इ. –कुलकम्मं, म. ब. ध. – कुलक्कमं। ३. झ. सयमेवं।
४. ध.–प्रस्थिता।

करके उपरोध के वश से कामी पुरुष के पास स्वयं उपस्थित भी हो जाए, अपने आपको सौंप भी देवे ॥११९॥

जइ देइ तह वि तत्थ सुण्णहर-खंडदेउलयभज्झम्मि[1]।
सच्चित्ते भयभीओ[2] सोक्खं किं तत्थ पाउणइ ॥१२०॥

अर्थ – तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुल के भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्त में भयभीत होने से वहाँ पर क्या सुख पा सकता है? ॥१२०॥

सोऊण किं पि सद्दं सहसा परिवेवमाणसव्वंगो।
ल्हुक्कइ पलाइ पखलइ चउद्दिसं णियइ भयभीओ ॥१२१॥

अर्थ – वहाँ पर कुछ भी जरा सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भय-भीत हो चारों दिशाओं को देखता है ॥१२१॥

जइ पुण केण वि दीसइ णिज्जइ तो बंधिऊण णिवगेहं।
चोरस्स णिग्गहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेसं ॥१२२॥

अर्थ – इस पर भी यदि कोई देख लेता है तो वह बाँधकर राज-दरबार में लाया जाता है और वहाँ पर वह चोर से भी अधिक दंड को पाता है ॥१२२॥

पेच्छह मोहविणडिओ लोगो दट्ठूण एरिसं दोसं।
पच्चक्खं तह वि खलो परित्थिहिलसदि[3] दुच्चित्तो ॥१२३॥

अर्थ – मोह की विडम्बना तो देखो कि परस्त्री-मोह से मोहित हुए खल लोग इस प्रकार के दोषों को प्रत्यक्ष देखकर भी अपने चित्त में परायी स्त्री की अभिलाषा करते हैं ॥१२३॥

---

१. झ. मज्झयारम्मि। २. झ. म. भयभीदो। ३. झ. ब. भो चित्तं।

परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इहभवसमुद्दम्मि।
परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा ॥१२४॥

अर्थ – परस्त्री-लम्पटी परलोक में इस संसार-समुद्र के भीतर अनन्त दुःख को पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियों को मन-वचन-काय से त्याग करना चाहिए ॥१२४॥

सप्त व्यसनदोष-वर्णन

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।
पत्तो तहावमाणं जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥१२५॥

अर्थ – जूआ खेलने से युधिष्ठिर राजा राज्य से भ्रष्ट हुए, बारह वर्ष तक वनवास में रहे तथा अपमान को प्राप्त हुए ॥१२५॥

उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जल त्ति णाऊण।
पिबिऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते[1] जादवा तेण ॥१२६॥

अर्थ – उद्यान में क्रीड़ा करते हुए प्यास से पीड़ित होकर यादवों ने पुरानी शराब को 'यह जल है' ऐसा जानकर पिया और उसी से वे नष्ट हो गये ॥१२६॥

मंसासणेण गिद्धो[2] वगरक्खो एग[3] चक्कणयरम्मि।
रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मुओ गओ णरयं ॥१२७॥

अर्थ – एकचक्र नामक नगर में मांस खाने में गृद्ध बक राक्षस राज्यपद से भ्रष्ट हुआ, अपयश से मरा और नरक गया ॥१२७॥

सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारुदत्तो वि।
खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेसगमणं च ॥१२८॥

अर्थ – सर्व विषयों में निपुण बुद्धि चारुदत्त ने भी वेश्या के संग

---

१. झ. ब. तो। २. म. लुद्धो। ३. ब. एय०।

से धन को खोकर दुःख पाया और परदेश में जाना पड़ा ॥१२८॥

होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ[1] वि संपत्तो।
मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ॥१२९॥

अर्थ – चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नों के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलने से मरकर नरक में गया ॥१२९॥

णासावहारदोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई।
मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे ॥१३०॥

अर्थ – न्यासापहार अर्थात् धरोहर को अपहरण करने के दोष से दंड पाकर श्रीभूति आर्तध्यान से मरकर संसार में दीर्घकाल तक रुलता फिरा ॥१३०॥

होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कवट्टी वि।
मरिऊण गओ[2] णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो ॥१३१॥

अर्थ – विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरों का स्वामी होकर भी लंका का स्वामी रावण परस्त्री के हरण से मरकर नरक में गया ॥१३१॥

एदे[3] महाणुभावा दोसं एक्केक-विसण[4]-सेवाओ।
पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वण्णिज्जए किं सो ॥१३२॥

अर्थ – ऐसे-ऐसे महानुभाव एक-एक व्यसन के सेवन करने से दुःख को प्राप्त हुए। फिर जो सातों ही व्यसनों को सेवन करता है, उसके दुःख का क्या वर्णन किया जा सकता है ॥१३२॥

साकेते[5] सेवंतो सत्त वि वसणाइं रुद्दत्तो वि।
मरिऊण गओ णिरयं भमिओ पुण दीहसंसारे ॥१३३॥

अर्थ – साकेत नगर में रुद्रदत्त सातों ही व्यसनों को सेवन करके मरकर नरक में गया और फिर दीर्घ काल तक संसार में भ्रमता फिरा ॥१३३॥

---

१. ब. -रयणीहिओ। २. ब. गयउ। ३. प. एए। ४. झ. ब. वसण०। ५. प. साकेए।

नरकगति दुःख-वर्णन

सत्तण्हं विसणाणं फलेण संसार-सायरे जीवो।
जं पावइ बहुदुक्खं तं संखेवेण वोच्छामि॥१३४॥

अर्थ – सातों व्यसनों के फल से जीव संसार-सागर में जो भारी दुःख पाता है, उसे मैं संक्षेप से कहता हूँ॥१३४॥

अइणिट्ठुरफरुसाइं पूइ-रुहिराइं अइदुगंधाइं।
असुहावहाइं णिच्चं णिरएसुप्पत्तिठाणाइं॥१३५॥

तो तेसु समुप्पण्णो आहारेऊण पोग्गले असुहे[६]।
अंतोमुहुत्तकाले पज्जत्तीओ समाणेइ॥१३६॥

अर्थ – नरकों में नारकियों के उत्पन्न होने के स्थान अत्यन्त निष्ठुर स्पर्श वाले हैं, पीप और रुधिर आदिक अति दुर्गन्धित और अशुभ पदार्थ उनमें निरन्तर बहते रहते हैं। उनमें उत्पन्न होकर नारकी जीव अशुभ पुद्गलों को ग्रहण करके अन्तर्मुहूर्त काल में पर्याप्तियों को सम्पन्न कर लेता है॥१३५-१३६॥

उववायाओ णिवडइ पज्जत्तयओ दंडत्ति[७] महिवीढे[८]।
अइकक्खडमसहंतो सहसा उप्पडदि पुण पडइ॥१३७॥

अर्थ – वह नारकी पर्याप्तियों को पूरा कर उपपादस्थान से दंडे के समान महीपृष्ठ पर गिर पड़ता है। पुनः नरक के अति कर्कश धरातल को नहीं सहन करता हुआ वह सहसा ऊपर को उछलता है और फिर नीचे गिर पड़ता है॥१३७॥

जइ को वि उसिणणरए मेरुपमाणं खिवेइ लोहंडं।
ण वि पावइ धरणितलं विलिज्ज[९] तं अंतराले वि॥१३८॥

---

६. ब. असुहो। ७. झ. दउ त्ति, उदउ त्ति। ८. ब. प. महिंवट्टे म. महीविट्टे। ९. इ. विलयम् जत्तंत०, झ. विलज्जंतं, विलिज्जंतं अंत०। म. विलयं जात्यंत०। मूलाराधना गा० १५६३।

अर्थ – यदि कोई उष्ण वेदना वाले नरक में मेरु-प्रमाण लोहे के गोले फेंके, तो वह भूतल को नहीं प्राप्त होकर अन्तराल में ही बिला जायेगा अर्थात् गल जायेगा। (नरकों में ऐसी उष्ण वेदना है) ॥१३८॥

अह तेवंडं[10] तत्तं खिवेइ को वि सीयणरयम्मि।
सहसा धरणिमपत्तं सडिज्ज[11] तं खंडखंडेहिं ॥१३९॥

अर्थ – यदि कोई उतने ही बड़े लोहे के गोले को शीतवेदनावाले नरक में फेंके, तो वह धरणीतल को नहीं प्राप्त होकर ही सहसा खंड-खंड होकर बिखर जायगा। (नरकों में ऐसी शीतवेदना है) ॥१३९॥

तं तारिससीदुण्हं खेत्तसहावेण होइ णिरएसु।
विसहइ जावज्जीवं वसणस्स फलेणिमो जीओ ॥१४०॥

अर्थ – नरकों में इस प्रकार की सर्दी और गर्मी क्षेत्र के स्वभाव से होती है। सो व्यसन के फल से यह जीव ऐसी तीव्र शीत-उष्ण वेदना को यावज्जीवन सहा करता है ॥१४०॥

तो तम्हि जायमत्ते सहसा दट्ठूणु णारया सव्वे।
पहरंति सत्ति-मुग्गर[12]-तिसूल-णाराय-खग्गेहिं ॥१४१॥

अर्थ – उस नरक में जीव के उत्पन्न होने के साथ ही उसे देखकर सभी नारकी सहसा-एकदम शक्ति, मुद्गर, त्रिशूल, बाण और खड्ग से प्रहार करने लगते हैं ॥१४१॥

तो खंडिय[13]-सव्वंगो करुणपलावं रुवेइ दीणमुहो।
पभणंति तओ रुट्ठा किं कंदसि रे दुरायारा ॥१४२॥

अर्थ – नारकियों के प्रहार से खंडित हो गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नवीन नारकी दीन-मुख होकर करुण प्रलाप करता

---

१०. झ. तेवडं, ब. ते वट्टं। ११. झ. संडेज्ज, म. सडेज्ज। मूलारा. १५६४।
१२. ब. मोग्गर-। १३. ब. खंडय०।

हुआ रोता है। तब पुराने नारकी उस पर रुष्ट होकर कहते हैं कि रे दुराचारी, अब क्यों चिल्लाता है ॥१४२॥

जोव्वणमएण मत्तो लोहकसाएण रंजिओ पुव्वं।
गुरुवयणं लंघित्ता जूयं रमियो जं आसि[1] ॥१४३॥

अर्थ – यौवन के मद से मत्त होकर और लोभकषाय से अनुरंजित होकर पूर्व भव में तूने गुरुवचन को उल्लंघन कर जुआ खेला है ॥१४३॥

तस्स फलमुदयमागयमलं हि रुयणेण[2] विसह रे[3] दुट्ठ।
रोवंतो वि ण छुट्टसि कयावि[4] पुव्वकयकम्मस्स ॥१४४॥

अर्थ – अब उस पाप का फल उदय आया है, इसलिए रोने से बस कर; और रे दुष्ट! अब उसे सहन कर। रोने से भी पूर्वकृत कर्म के फल से कभी भी नहीं छूटेगा ॥१४४॥

एवं सोऊण तओ माणसदुक्खं वि[5] से समुप्पण्णं।
तो दुविह-दुक्खदड्ढो रोसाइट्ठो इमं भणइ ॥१४५॥

अर्थ – इस प्रकार के दुर्वचन सुनने से उसके भारी मानसिक दुःख भी उत्पन्न होता है। तब वह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख से दग्ध होकर और रोष में आकर इस प्रकार कहता है ॥१४५॥

जइ वा[6] पुव्वम्मि भवे जूयं रमियं मए मदवसेण।
तुम्हं[7] को अवराहो कओ बला जेण मं[8] हणह[9] ॥१४६॥

अर्थ – यदि मैंने पूर्व भव में मद के वश होकर जूआ खेला है, तो तुम्हारा क्या अपराध किया है, जिसके कारण जबर्दस्ती तुम मुझे मारते हो ॥१४६॥

---

१. इ. जं मांसि। २. ब. रुण्णेण। ३. इ. नं, झ. ब. तं०। ४. ब. कयाइं। ५. इ. झ. म. विसेसमुप्पण्णं। ६. इ. ब. या। ७. इ. तुम्हे, झ. तोम्हि, ब. तोहितं। ८. इ. महं, म. हं.। ९. इ. हणहं।

एवं भणिए घित्तूण सुट्ठु रुट्ठेहिं अग्गिकुंडम्मि।
पज्जजलम्मि णिहित्तो डज्झइ सो [१०]अंगमंगेसु ॥१४७॥

अर्थ – ऐसा कहने पर अतिरुष्ट हुए वे नारकी उसे पकड़कर प्रज्वलित अग्निकुण्ड में डाल देते हैं, जहाँ पर वह अंग-अंग में अर्थात् सर्वांग में जल जाता है ॥१४७॥

तत्तो णिस्सरमाणं दट्ठूणंज्झसरेहिं[११] अहव कुंतेहिं।
पिल्लेऊण रडंतं तत्थेव छुहंति अदयाए ॥१४८॥

अर्थ – उस अग्निकुण्ड से निकलते हुए उसे देखकर झसरों से (शस्त्र-विशेष से) अथवा भालों से छेदकर चिल्लाते हुए उसे निर्दयतापूर्वक उसी कुण्ड में डाल देते हैं ॥१४८॥

हा मुयह मं मा पहरह पुणो वि ण करेमि एरिसं पावं।
दंतेहि अंगुलीओ धरेइ करुणं[१२] पुणो रुवइ ॥१४९॥

अर्थ – हाय, मुझे छोड़ दो, मुझ पर मत प्रहार करो, मैं ऐसा पाप फिर नहीं करूँगा, इस प्रकार कहता हुआ वह दाँतों से अपनी अंगुलियाँ दबाता है और करुण प्रलाप-पूर्वक पुनः पुनः रोता है ॥१४९॥

ण मुयंति तह वि पावा पेच्छह लीलाए कुणइ जं जीवो[१३]।
तं पावं विलवंतो एयहिं[१४] दुक्खेहिं णित्थरइ[१५] ॥१५०॥

अर्थ – तो भी वे पापी नारकी उसे नहीं छोड़ते हैं। देखो, जीव जो पाप, लीला से – कुतूहल मात्र से करता है, उस पाप से विलाप करते हुए वह उपर्युक्त दुःखों को भोगता है ॥१५०॥

---

१०. इ. मुद्ध, म. मुधा। ११. इ. तासे हि, म. ता सही। १२. झ. ब. कलुणं।
१३. इ. जूवो। १४. ब. एयहं। १५. म. णित्थरो हं हो। प. णिच्छरइ।

तत्तो पलाइऊणं कह वि य माएण[1] दड्ढसव्वंगो।
गिरिकंदरम्मि सहसा पविसइ सरणं त्ति मण्णंतो ॥१५१॥

अर्थ – जबर्दस्ती जला दिये गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नारकी जिस किसी प्रकार उस अग्निकुण्ड से भागकर पर्वत की गुफा में 'यहाँ शरण मिलेगा' ऐसा समझता हुआ सहसा प्रवेश करता है ॥१५१॥

तत्थ वि पडंति उवरिं सिलाउ तो ताहिं[2] चुण्णिओ संतो।
गलमाणरुहिरधारो रहिऊण खणं तओ णीइ[3] ॥१५२॥

अर्थ – किन्तु वहाँ पर भी उसके ऊपर पत्थरों की शिलाएँ पड़ती हैं, तब उनसे चूर्ण चूर्ण होता हुआ और जिसके खून की धाराएँ बह रही हैं, ऐसा होकर चिल्लाता हुआ क्षणमात्र में वहाँ से निकल भागता है ॥१५२॥

णेरइयाण सरीरं कीरइ जइ तिलपमाणखंडाइ।
पारद-रसुव्व लग्गइ अपुण्णकालम्मि ण मरेइ ॥१५३॥

अर्थ – नारकियों के शरीर के यदि तिल-तिल के बराबर भी खंड कर दिये जावें, तो भी वह पारे के समान तुरन्त आपस में मिल जाते हैं, क्योंकि अपूर्ण काल में अर्थात् असमय में नारकी नहीं मरता है ॥१५३॥

तत्तो पलायमाणो रुंभइ सो णारएहिं दट्ठूण।
पाइज्जइ[4] विलवंतो अय-तंबय[5]-कलयलं[6] तत्तं ॥१५४॥

अर्थ – उस गुफा में से निकलकर भागता हुआ देखकर वह नारकियों के द्वारा रोक लिया जाता है और उनके द्वारा उसे जबर्दस्ती तपाया हुआ लोहा-ताँबा आदि का रस पिलाया जाता है ॥१५४॥

---

१. झ. वयमाएण, ब. वपमाएण। २. इ. तेहि। ३. म. णियइ। ४. ब. णाइज्जइ। म. पाविज्जइ। ५. इ. अयवयं, य. अससंवय। ६. कलयलं-ताम्र-शीसक-तिल-सर्ज्जरस-गुग्गुल-सिक्थल-लवण-जतु-वज्रलेपाः क्वाथयित्वा मिलिता 'कलकल' इत्युच्यन्ते। मूलारा० गा० १५६९ आशाधरी टीका।

पच्चारिज्जइ जं ते[७] पीयं मज्जं महुं च पुव्वभवे।
तं[८] पावफलं पत्तं पिबेहि अयकलयलं घोरं॥१५५॥

अर्थ – वे नारकी उसे याद दिलाते हैं कि पूर्व भव में तूने मद्य और मधु को पिया है, उस पाप का फल प्राप्त हुआ है, अतः अब यह घोर 'अयकलकल' अर्थात् लोहा, तांबा आदि का मिश्रित रस पी॥१५५॥

कह वि तओ जइ छुट्टो असिपत्तवणम्मि विसइ भयभीओ।
णिबडंति तत्थ[९] पत्ताइं खग्गसरिसाइं अणवरयं॥१५६॥

अर्थ – यदि किसी प्रकार वहाँ से छूटा तो भयभीत हुआ वह असिपत्र वन में, अर्थात् जिस वन के वृक्षों के पत्ते तलवार के समान तीक्ष्ण होते हैं, उसमें 'यहाँ शरण मिलेगा' – ऐसा समझकर घुसता है, किन्तु वहाँ पर भी तलवार के समान तेज धार वाले वृक्षों के पत्ते निरन्तर उसके ऊपर पड़ते हैं॥१५६॥

तो तम्हि पत्तपडणेण छिण्णकर-चरण भिण्णपुट्ठि-सिरो।
पगलंतरुहिरधारो कंदंतो सो तओ णीइ[१०]॥१५७॥

अर्थ – जब उस असिपत्रवन में पत्तों के गिरने से उसके हाथ, पैर, पीठ, शिर आदि कट-कटकर अलग हो जाते हैं, और शरीर से खून की धारा बहने लगती है, तब वह चिल्लाता हुआ वहाँ से भी भागता है॥१५७॥

तुरियं पलायमाणं सहसा धरिऊण णारया कूरा।
छित्तूण तस्स मंसं तुंडम्मि छुहंति[११] तस्सेव॥१५८॥

अर्थ – वहाँ से जल्दी भागते हुए उसे देखकर क्रूर नारकी सहसा पकड़कर और उसका मांस काटकर उसी के मुँह में डालते हैं॥१५८॥

---

७. ब. म. तो। ८. ब. तव। ९. झ. वच्छ०। १०. इ. म. णियइ। ११. इ. छहंति।

भोत्तुं अणिच्छमाणं णियमंसं तो भणंति रे दुट्ठ।
अइमिट्ठं भणिऊण भक्खंतो आसि जं पुव्वं ॥१५९॥

अर्थ – जब वह अपने मांस को नहीं खाना चाहता है, तब वे नारकी कहते हैं कि, अरे दुष्ट, तू तो पूर्व भव में परजीवों के मांस को बहुत मीठा कहकर खाया करता था ॥१५९॥

तं किं ते विस्सरियं जेण मुहं कुणसि रे पराहुत्तं।
एवं भणिऊण कुसिं छुहिंति तुंडम्मि पज्जलियं ॥१६०॥

अर्थ – सो क्या वह तू भूल गया है, जो अब अपना मांस खाने से मुँह को मोड़ता है, ऐसा कहकर जलते हुए कुश को उसके मुख में डालते हैं ॥१६०॥

अइतिव्वदाहसंताविओ तिसावेयणासमभिभूओ।
किमि-पूइ-रुहिरपुण्णं वइतरणिणइं तओ विसइ ॥१६१॥

अर्थ – तब अति तीव्र दाह से संतापित होकर और प्यास की प्रबल वेदना से परिपीड़ित हो वह (प्यास बुझाने की इच्छा से) कृमि, पीप और रुधिर से परिपूर्ण वैतरणी नदी में घुसता है ॥१६१॥

तत्थ वि पविट्ठमित्तो[1] खारुण्हजलेण दड्ढसव्वंगो।
णिस्सरइ तओ तुरिओ हाहाकारं पकुव्वंतो ॥१६२॥

अर्थ – उसमें घुसते ही खारे और उष्ण जल से उसका सारा शरीर जल जाता है, तब वह तुरन्त ही हाहाकार करता हुआ वहाँ से निकलता है ॥१६२॥

दट्ठूण णारया णीलमंडवे[2] तत्तलोहपडिमाओ।
आलिंगाविंति तहिं धरिऊण बला विलवमाणं ॥१६३॥

---

१. ब. सत्तो, प.म. मित्ता।

२. काललोहघटितमंडपे। मूलाराधना गा० १५६९ विजयो. टीका।

अर्थ – नारकी उसे भागता हुआ देखकर और पकड़कर काले लोहे से बनाये गये नील-मंडप में ले जाकर विलाप करते हुए उसे जबर्दस्ती तपाई हुई लोहे की प्रतिमाओं से (पुतलियों से) आलिंगन कराते हैं ॥१६३॥

अगणित्ता गुरुवयणं परित्थि-वेसं च आसि सेवंतो।
एण्हिं तं पावफलं ण सहसि किं रुवसि तं जेण ॥१६४॥

अर्थ – और कहते हैं कि–गुरुजनों के वचनों को कुछ नहीं गिनकर पूर्वभव में तूने परस्त्री और वेश्या का सेवन किया है। अब इस समय उस पाप के फल को क्यों नहीं सहता है, जिससे कि रो रहा है ॥१६४॥

पुव्वभवे जं कम्मं पंचिंदियवसगएण जीवेण।
हसमाणेण विबद्धं तं किं णित्थरसि[3] रोवंतो ॥१६५॥

अर्थ – पूर्वभव में पाँचों इन्द्रियों के वश होकर हँसते हुए रे पापी जीव, तूने जो कर्म बाँधे हैं, सो क्या उन्हें रोते हुए दूर कर सकता है? ॥१६५॥

किकवाय-गिद्ध-वायसरूवं धरिऊण णारया चेव।
[4]पहरंति वज्जमयतुंड-तिक्खणहरेहिं[5] दयरहिया ॥१६६॥

अर्थ – वे दया-रहित नारकी जीव ही कृकवाक (कुक्कुट-मुर्गा) गिद्ध, काक, आदि के रूपों को धारण करके वज्रमय चोंचों से, तीक्ष्ण नखों और दाँतों से उसे नोंचते हैं ॥१६६॥

धरिऊण उड्ढजंघं करकच-चक्केहिं केइ फाडंति।
मुसलेहिं मुग्गरेहिं य चुण्णी चुण्णी कुणंति[6] परे ॥१६७॥

---

३. प. णिरसि, झ. ब. णिच्छरसि। ४. प. पहणंति।

५. इ. तिक्खणहिं। मूलारा० १५७१। ६. म. चुण्णीकुव्वंति परे णिरया।

अर्थ – कितने ही नारकी उसे ऊर्ध्वजंघ कर अर्थात् शिर नीचे और जाँघें ऊपर कर करकच (करोंत या आरा) और चक्र से चीर फाड़ डालते हैं तथा कितने ही नारकी उसे मूसल और मुद्गरों से चूरा-चूरा कर डालते हैं ॥१६७॥

जिब्भाछेयण णयणाण फोडणं दंतचूरणं दलणं।
मलणं कुणंति खंडंति केई तिलमत्तखंडेहिं ॥१६८॥

अर्थ – कितने ही नारकी जीभ काटते हैं, आँखें फोड़ते हैं, दाँत तोड़ते हैं और सारे शरीर का दलन-मलन करते हैं। कितने ही नारकी तिल-प्रमाण खंडों से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥१६८॥

अण्णे कलंववालुय[1] थलम्मि तत्तम्मि पाडिऊण पुणो।
लोट्टाविंति रडंतं णिहणंति घसंति भूमीए ॥१६९॥

अर्थ – कितने ही नारकी तपाये हुए तीक्ष्ण रेतीले मैदान में डालकर रोते हुए उसे लोट-पोट करते हैं, मारते हैं और भूमि पर घसीटते हैं ॥१६९॥

असुरा वि कूरपावा तत्थ वि गंतूण पुव्ववेराइं।
सुमराविऊण तओ जुद्धं[2] लायंति अण्णोण्णं ॥१७०॥

अर्थ – क्रूर और पापी असुर जाति के देव भी वहाँ जाकर और पूर्वभव के बैरों को याद दिलाकर उन नारकियों को आपस में लड़वाते हैं ॥१७०॥

सत्तेव अहोलोए पुढवीओ तत्थ सयसहस्साइं।
णिरयाणं चुलसीई सेढिंद-पइण्णयाण हवे ॥१७१॥

अर्थ – अधोलोक में सात पृथ्वियाँ हैं, उनमें श्रेणीबद्ध, इन्द्रक

---

१. कलववालुयं-कदंबप्रसूनाकारा वालुकाचितदुःप्रवेशाः वज्रदलालंकृत-खदिरांगार-कणप्रकरोपमानाः। मूलारा० गा० १५६८ विजयोदया टीका। २. ब. जुप्सं।

और प्रकीर्णक नाम के चौरासी लाख नरक हैं ॥१७१ ॥

रयणप्पह-सक्करपह-बालुप्पह-पंक-धूम-तमभासा।
तमतमपहा य पुढवीणं जाण अुणवत्थणामाइं[३] ॥१७२ ॥

अर्थ – उन पृथिवियों के रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमस्तमप्रभा (महातमप्रभा) ये अन्वर्थ अर्थात् सार्थक नाम जानना चाहिए ॥१७२ ॥

पढमाएं पुढवीए वाससहस्साइं दह जहण्णाऊ।
समयम्मि वण्णिया सायरोवमं होइ उक्कस्सं[४] ॥१७३ ॥

अर्थ – परमागम में प्रथम पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष की कही गई है और उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम होती है ॥१७३ ॥

पढमाइ जमुक्कस्सं विदियाइसु साहियं जहण्णं तं।
तिय सत्त दस य सत्तरस दुसहिया बीस तेत्तीसं ॥१७४ ॥

सायरसंखा एसा कमेण विदियाइ जाण पुढवीसु।
उक्कस्साउपमाणं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥१७५ ॥

अर्थ – प्रथमादिक पृथ्वियों में जो उत्कृष्ट आयु होती है, कुछ अधिक अर्थात् एक समय अधिक वही द्वितीयादिक पृथ्वियों में जघन्य आयु जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् ने द्वितीयादिक पृथ्वियों में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण क्रम से तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर प्रमाण कहा है ॥१७४-१७५ ॥

एत्तियपमाणकालं सारीरं माणसं बहुपयारं।
दुक्खं सहेइ तिव्वं वसणस्स फलेणिमो जीवो ॥१७६ ॥

अर्थ – व्यसन-सेवन के फल से यह जीव इतने (उपर्युक्त-

---

३. इ. अनुवृतथ०, म अणुवट्ठ० । ४. मुद्रितप्रतौ गाथेयं रिक्ता।

प्रमाण) काल तक नरक में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक तीव्र दु:ख को सहन करता है ॥१७६ ॥

तिर्यंचगतिदु:ख-वर्णन

तिरियगईए वि तहा थावरकाएसु बहुपयारेसु।
अच्छइ अणंतकालं हिंडंतो जोणिलक्खेसु ॥१७७ ॥

अर्थ – इसी प्रकार व्यसन-सेवन के फल से यह जीव तिर्यंच गति की लाखों योनिवाली बहुत प्रकार की स्थावरकाय की जातियों में अनन्त काल तक भ्रमण करता रहता है ॥१७७ ॥

कहमवि णिस्सरिऊणं तत्तो वियलिंदिएसु संभवइ।
तत्थ वि किलिस्समाणो कालमसंखेज्जयं वसइ ॥१७८ ॥

अर्थ – उस स्थावरकाय में से किसी प्रकार निकलकर विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होता है तो वहाँ भी क्लेश उठाता हुआ असंख्यात काल तक परिभ्रमण करता रहता है ॥१७८ ॥

तो खिल्लविल्लजोएण कह वि पंचिंदिएसु उववण्णो।
तत्थ वि असंखकालं जोणिसहस्सेसु परिभमइ ॥१७९ ॥

अर्थ – यदि कदाचित् खिल्लविल्ल योग से* पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हो गया तो वहाँ भी असंख्यात काल तक हजारों योनियों में परिभ्रमण करता रहता है ॥१७९ ॥

छेयण-भेयण-ताडण-तासण-णिल्लंछणं तहा दमणं।
णिक्खलण-मलण-दलणं पउलण उक्कत्तणं चेव[1] ॥१८० ॥

** भाड़ में भुनते हुए धान्य में से दैववशात् जैसे कोई एक दाना उछलकर बाहिर आ पड़ता है उसी प्रकार दैववशात् एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों में से कोई एक जीव निकलकर पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हो जाता है, तब उसे खिल्लविल्ल योग से उत्पन्न होना कहते हैं।*

१. मूलारा० गा० १५८२।

[२]बंधण-भारारोवण लंछण पाणण्णरोहणं सहणं।
सीउण्ह-भुक्ख-तण्हादिजाण तह पिल्लयविओयं[३] ॥१८१॥

अर्थ – तिर्यंच योनि में छेदन, भेदन, ताड़न, त्रासन, निर्लांछन (बधिया करना), दमन, निक्खलन (नाक छेदन), मलन, दलन, प्रज्वलन, उत्कर्त्तन, बंधन, भारारोपण, लांछन (दागना), अन्न-पान-रोधन, तथा शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि बाधाओं को सहता है, और पिल्लों (बच्चों) के वियोग-जनित दुख को भोगता है॥१८०-१८१॥

***इच्चेवमाइ बहुयं दुक्खं पाउणइ तिरियजोणीए[४]।**
विसणस्स फलेण जदो वसणं परिवज्जए तम्हा॥१८२॥

अर्थ – इस प्रकार व्यसन के फल से यह जीव तिर्यंच-योनि में उपर्युक्त अनेक दुःख पाता है, इसलिए व्यसन का त्याग कर देना चाहिए॥१८२॥

मनुष्यगतिदुःख-वर्णन

मणुयत्ते[५] वि य जीवा दुक्खं पावंति बहुवियप्पेहिं।
इट्ठाणिट्ठेसु सया वियोय-संयोयजं तिव्वं॥१८३॥

---

२. मूलारा० गा० १५८३। ३. स्तनन्धयवियोगमित्यर्थः।

** इतः पूर्वं झ. ब. प्रत्योः इमे गाथेऽधिके उपलभ्येते –*

तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठमणुस्सेहिं हम्ममाणो वि।
सव्वत्थ वि संतट्ठो विसहदे भीमं॥१॥

अण्णोण्णं खज्जंता तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ राखेदि॥२॥

तिर्यंचों के द्वारा खाया गया, दुष्ट शिकारी लोगों के द्वारा मारा गया और सब ओर से संत्रस्त होता हुआ भय-जनित भयंकर दुःख को सहता है॥१॥ तिर्यंच परस्पर में एक दूसरे को खाते हुए दारुण दुःख पाते हैं। जिस योनि में माता भी अपने पुत्र को खा लेती है, वहाँ दूसरा कौन रक्षा कर सकता है॥२॥ –स्वामिकार्ति० अनु०, गा० ४१-४२

५. झ. ब. मणुयत्तेण। (मणुयत्तणे।)

अर्थ – मनुष्य भव में भी व्यसन के फल से ये जीव सदैव बहुत प्रकार से इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में वियोग-संयोगज तीव्र दुःख पाते हैं ॥१८६॥

उप्पण्णपढमसमयम्हि कोई जणणीइ छंडिओ संतो।
कारणवसेण इत्थं सीउण्ह-भुक्ख-तण्हाउरो मरइ ॥१८४॥

अर्थ – उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही कारणवश से माता के द्वारा छोड़े गये कितने ही जीव इस प्रकार शीत, उष्ण, भूख और प्यास से पीड़ित होकर मर जाते हैं ॥१८४॥

बालत्तणे वि जीवो माया-पियरेहि कोवि परिहीणो।
उच्छिट्ठं भक्खंतो जीवइ दुक्खेण परगेहे ॥१८५॥

अर्थ – बालकपन में ही माता-पिता से रहित कोई जीव पराये घर में जूठन खाता हुआ दुःख के साथ जीता है ॥१८५॥

पुव्वं दाणं दाऊण को वि सधणो जणस्स जहजोगं।
पच्छा सो धणरहिओ ण लहइ कूरं पि जायंतो ॥१८६॥

अर्थ – यदि कोई मनुष्य पूर्व भव में मनुष्यों को यथायोग्य दान देकर इस भव में धनवान् भी हुआ और पीछे (पापोदय से) धनरहित हो गया तो माँगने पर खाने को कूर (भात) तक नहीं पाता है ॥१८६॥

अण्णो उ पावरोएण[1] बाहिओ णयर-बज्झदेसम्मि।
अच्छइ सहायरहिओ ण लहइ सघरे वि चिट्ठेउं ॥१८७॥

अर्थ – कोई एक मनुष्य पापरोग अर्थात् कोढ़ से पीड़ित होकर नगर से बाहर किसी एकान्त प्रदेश में सहाय-रहित होकर अकेला रहता है, वह अपने घर में भी नहीं रहने पाता ॥१८७॥

तिसओ वि भुक्खिओ[2] हं पुत्ता मे देहि[3] पाणमसणं च।
एवं कूवंतस्स[4] वि ण कोइ वयणं च से देइ ॥१८८॥

---

१. कुष्टरोगेणेत्यर्थः २. ध. 'पभुक्खिओ' ३. ब. देह ४ (कूजंतस्स?)।

अर्थ – मैं प्यासा हूँ और भूखा भी हूँ; बच्चों! मुझे अन्न-जल दो-खाने-पीने को दो-इस प्रकार चिल्लाते हुए भी उसको कोई वचन से भी आश्वासन तक नहीं देता ॥१८८॥

तो रोय-सोयभरिओ सव्वेसिं सव्वहियाउ[1] दाऊण।
दुक्खेण मरइ पच्छा धिगत्थु मणुयत्तणमसारं ॥१८९॥

अर्थ – तब रोग-शोक से भरा हुआ वह सब लोगों को नाना प्रकार के कष्ट देकर के पीछे स्वयं दुःख से मरता है। ऐसे असार मनुष्य जीवन को धिक्कार है ॥१८९॥

अण्णाणि एवमाईणि जाणि दुक्खाणि मणुयलोयम्मि।
दीसंति ताणि पावइ वसणस्स फलेणिमो जीवो ॥१९०॥

अर्थ – इन उपर्युक्त दुःखों को आदि लेकर जितने भी दुःख मनुष्य लोक में दिखाई देते हैं, उन सबको व्यसन के फल से यह जीव पाता है ॥१९०॥

देवगति दुःख-वर्णन

किंचुवसमेण पावस्स कह वि देवत्तणं वि संपत्तो।
तत्थ वि पावइ दुक्खं विसणज्जियकम्मपागेण ॥१९१॥

अर्थ – यदि किसी प्रकार पाप के कुछ उपशम होने से देवपना भी प्राप्त हुआ तो वहाँ पर भी व्यसन-सेवन से उपार्जित कर्म के परिपाक से दुःख पाता है ॥१९१॥

दट्ठूण महड्ढीणं देवाणं ठिइज्जरिद्धिमाहप्पं।
अप्पड्ढिओ विसूरइ माणसदुक्खेण डज्झंतो ॥१९२॥

अर्थ – देव-पर्याय में महर्द्धिक देवों की अधिक स्थिति-जनित

---

१. ब. सवहियाउ।

ऋद्धि के माहात्म्य को देखकर अल्प ऋद्धिवाला वह देव मानसिक दुःख से जलता हुआ, विसूरता (झूरता) रहता है ॥१९२॥

हा मणुयभवे उप्पज्जिऊण तव-संजमं वि लद्धूण।
मायाए जं वि कयं[1] देवदुग्गयं तेण संपत्तो ॥१९३॥

अर्थ – और सोचा करता है कि हाय! मनुष्य-भव में भी उत्पन्न होकर और तप-संयम को भी पाकर उसमें मैंने जो मायाचार किया, उसके फल से मैं इस देव-दुर्गति को प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् नीच जाति का देव हुआ हूँ ॥१९३॥

कंदप्प-किब्भिसासुर-वाहण-सम्मोह[2]-देवजाईसु।
जावज्जीवं णिवसइ विसहंतो माणसं दुक्खं ॥१९४॥

अर्थ – कन्दर्प, किल्विषिक, असुर, वाहन, सम्मोहन आदि देवों की कुजातियों में इस प्रकार मानसिक दुःख सहता हुआ वह यावज्जीवन निवास करता है ॥१९४॥

छम्मासाउयसेसे वत्थाहरणाइं हुंति मलिणाइं।
णाऊण चवणकालं अहिययरं रुयइ सोगेण ॥१९५॥

अर्थ – देवगति में छह मास आयु के शेष रह जाने पर वस्त्र और आभूषण मैले अर्थात् कान्ति-रहित हो जाते हैं, तब वह अपना च्यवन-काल जानकर शोक से और भी अधिक रोता है ॥१९५॥

हा हा कह णिल्लोए[3] किमिकुलभरियम्मि अइदुगंधम्मि।
णवमासं पुइ-रुहिराउलम्मि गब्भम्मि वसियव्वं ॥१९६॥

अर्थ – और कहता है कि हाय-हाय! किस प्रकार अब मैं मनुष्य-लोक में कृमि-कुल-भरित, अति दुर्गन्धित, पीप और खून से व्याप्त गर्भ में नौ मास रहूँगा? ॥१९६॥

---

१. इ. कं कप्पं, झ. बि जं कयं। २. इ. समोह। ३. नृलोके।

किं करमि[1] कत्थ वच्चमि कस्स साहामि जामि कं सरणं।
ण वि अत्थि एत्थ बंधू जो मे धारेइ णिवडंतं॥१९७॥

अर्थ – मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, किसको प्रसन्न करूँ, किसके शरण जाऊँ? यहाँ पर मेरा कोई भी ऐसा बन्धु नहीं है, जो यहाँ से गिरते हुए मुझे बचा सके॥१९७॥

वज्जाउहो[2] महप्पा एरावण-वाहणो सुरिंदो वि।
जावज्जीवं सो सेविओ वि ण धरेइ मं तहवि॥१९८॥

अर्थ – वज्रायुध, महात्मा, ऐरावत आदि की सवारीवाला और यावज्जीवन जिसकी सेवा की है, ऐसा देवों का स्वामी इन्द्र भी मुझे यहाँ नहीं रख सकता है॥१९८॥

जइ मे होहिहि मरणं ता होज्जउ किंतु मे समुप्पत्ती।
एगिंदिएसु जाइज्जा णो मणुस्सेसु कइया वि॥१९९॥

अर्थ – यदि मेरा मरण हो तो भले ही हो, किन्तु मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियों में होवे, पर मनुष्यों में तो कदाचित् भी नहीं होवे॥१९९॥

अहवा किं कुणइ पुराज्जियम्मि उदयागयम्मि कम्मम्मि।
सक्को वि जदो ण तरइ अप्पाणं रक्खिउं काले॥२००॥

अर्थ – अथवा अब क्या किया जा सकता है, जबकि पूर्वोपार्जित कर्म के उदय आने पर इन्द्र भी मरण-काल में अपनी रक्षा करने के लिए शक्त नहीं है॥२००॥

एवं बहुप्पयारं सरणविरहिओ खरं विलवमाणो।
एइंदिएसु जायइ मरिऊण तओ णियाणेण॥२०१॥

अर्थ – इसी प्रकार शरण-रहित होकर वह देव अनेक प्रकार के करुण विलाप करता हुआ निदान के फल से वहाँ से मरकर एकेन्द्रियों

---

१. इ. करम्मि २. वज्रायुधः

में उत्पन्न होता है ॥२०१॥

तत्थ वि अणंतकालं किलिस्समाणो सहेइ बहुदुक्खं।
मिच्छत्तसंसियमई जीवो किं किं दुक्खं[1] ण पाविज्जइ[2] ॥२०२॥

अर्थ – वहाँ पर भी अनन्त काल तक क्लेश पाता हुआ बहुत दुःख को सहन करता है। सच बात तो यह है कि मिथ्यात्व से संसिक्त बुद्धिवाला जीव किस-किस दुःख को नहीं पाता है ॥२०२॥

पिच्छह[3] दिव्वे भोये जीवो भोत्तूण देवलोयम्मि।
एइंदिएसु जायइ धिगत्थु[4] संसारवाससस्स ॥२०३॥

अर्थ – देखो, देवलोक में दिव्य भोगों को भोगकर यह जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न होता है ऐसे संसार-वास को धिक्कार है ॥२०३॥

एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसार-सायरे घोरे।
जीवो सरण-विहीणो विसणस्स फलेण पाउणइ ॥२०४॥

अर्थ – इस तरह अनेक प्रकार के दुःखों को घोर संसार-सागर में यह जीव शरण-रहित होकर अकेला ही व्यसन के फल से प्राप्त होता है ॥२०४॥

प्रथम दर्शनप्रतिमा-वर्णन

***पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय[1] जो सत्त विसणाइं।**
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणियो ॥२०५॥

अर्थ – जो सम्यग्दर्शन से विशुद्ध-बुद्धि जीव इन पंच उदुम्बर सहित सातों व्यसनों का परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन-श्रावक कहा गया है ॥२०५॥

---

*१. ब. प्रतौ 'दुक्खं' इति पाठो नास्ति। २. झ. पाविज्जा। प. पापिज्ज। ३. प. पेच्छह। ४. ब. धिग्त्थ * उदुंबराणि पंचैव सप्त च व्यसनान्यपि। वर्जयेद्यः सः सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वयः ॥११२॥ गुण० श्रा० ५. प. ध. प्रत्योः इय पदं गाथारम्भेऽस्ति।*

एवं दंसणसावयठाणं पढमं समासओ भणियं।
वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि॥२०६॥

अर्थ – इस प्रकार दार्शनिक श्रावक का पहला स्थान संक्षेप से कहा। अब इससे आगे व्रतिक श्रावक का दूसरा स्थान कहता हूँ॥२०६॥

द्वितीय व्रतप्रतिमा-वर्णन

***पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण[1] तिण्णि।**
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि॥२०७॥

अर्थ – द्वितीय स्थान में, अर्थात् दूसरी प्रतिमा में पाँचों ही अणुव्रत, तीन गुणव्रत, तथा चार शिक्षाव्रत होते हैं ऐसा जानना चाहिए॥२०७॥

पाणाइवायविरई सच्चमदत्तस्स वज्जणं चेव।
थूलयड बंभचेरं[2] इच्छाए गंथपरिमाणं॥२०८॥

अर्थ – स्थूल प्राणातिपातविरति, स्थूल सत्य, अदत्त वस्तु का वर्जन, स्थूल ब्रह्मचर्य और इच्छानुसार स्थूल परिग्रह का परिमाण – ये पाँच अणुव्रत होते हैं॥२०८॥

ते तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा[3] ते।
एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं॥२०९॥

अर्थ – जो त्रसजीव पहले बतलाये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवों को भी नहीं मारना चाहिए, यह पहला स्थूल अहिंसाव्रत है॥२०९॥

****अलियं ण जंपणीयं पाणिबहकरं तु सच्चवयणं पि।**
रायेण य दोसेण य णेयं विदियं[4] वयं थूलं॥२१०॥

** पंचधाणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम्। शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्सः भवेद् व्रतिको यतिः॥१३०॥ १. ब. तद। (तह?) २. ब. बंभचेरो। ३. इ. हिंसयव्वा। ** क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणा। सत्यं तदपि नो वाच्यं यत्स्यात् प्राणिविघातकम्॥१३४॥ ४. इ. झ. विइयं, वियं।*

अर्थ – राग से अथवा द्वेष से झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए और प्राणियों का घात करने वाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, यह दूसरा स्थूल सत्यव्रत जानना चाहिए ॥२१० ॥

×पुर-गाम-पट्टणाइसु पडियं णट्ठं च णिहिय वीसरियं।
परदव्वमगिण्हंतस्स होइ थूलवयं तदियं[1] ॥२११ ॥

अर्थ – पुर, ग्राम, पत्तन, क्षेत्र आदि में पड़ा हुआ, खोया हुआ, रखा हुआ, भूला हुआ, अथवा रख करके भूला हुआ पराया द्रव्य नहीं लेने वाले जीव के तीसरा स्थूल अचौर्यव्रत होता है ॥२११ ॥

××पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो।
थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥२१२ ॥

अर्थ – अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्री-सेवन और सदैव अनंग क्रीड़ा का त्याग करनेवाले जीव को प्रवचन में जिनेन्द्र भगवान ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ॥२१२ ॥

जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं।
तं जाण[2] पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२१३ ॥ (१)

अर्थ – धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण आदि का जो परिमाण किया जाता है, वह पंचम अणुव्रत जानना चाहिए, ऐसा उपासकाध्ययन में कहा गया है ॥२१३ ॥

गुणव्रत-वर्णन

पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं।
परदो[7] गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं ॥२१४ ॥(२)

× ग्रामे चतुःपथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम्। परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥१३४ ॥
१. ब. तइयं। ×× स्त्रीसेवानंगरमणं यः पर्वणि परित्यजेत्। सः स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनैः ॥१३६ ॥ गुण० श्राव० २. ब. जाणि।

(१) धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते। ततोऽधिके च दातास्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रहः ॥१३७ ॥ ७. ब. परओ। (२) दिग्देशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम्। सा दिशाविरतियां स्याद्दिशानुगमनप्रमा ॥१४० ॥

अर्थ – पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में योजनों का प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओं में गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है ॥२१४॥

वय-भंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं[1] ॥२१५॥ (१)

अर्थ – जिस देश में रहते हुए व्रत-भंग का कारण उपस्थित हो, उस देश में नियम से जो गमननिवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नाम का गुणव्रत जानना चाहिए ॥२१५॥

अय-दंड-पास-विक्कय-कूड-तुलामाण-कूरसत्ताणं।
जं संगहो[2] ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं[3] ॥२१६॥ (२)

अर्थ – लोहे के शस्त्र तलवार, कुदाली वगैरह के तथा दंडे और पाश (जाल) आदि के बेंचने का त्याग करना, झूठी तराजू और कूट मान अर्थात् नापने-तोलने आदि के बाटों को कम नहीं रखना तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियों का संग्रह नहीं करना, सो यह तीसरा अनर्थदण्डत्याग नाम का गुणव्रत जानना चाहिए ॥२१६॥

शिक्षाव्रत-वर्णन

जं परिमाणं कीरइ मंडण-तंबोल-गंध-पुप्फाणं।
तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते ॥२१७॥ (३)

अर्थ – मंडन अर्थात् शारीरिक शृंगार, ताम्बूल, गंध और पुष्पादिक का जो परिमाण किया जाता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्र में भोगविरति नाम का प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है ॥२१७॥

---

१. इ. झ. ब. विइयं। (१) यत्र व्रतस्य भंगः स्याद्देशे तत्र प्रयत्नतः। गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥१४१॥ २. ब. संगहे। ३. इ. झ. प. तइयं, ब. णियत्ती। (२) कूटमानतुला-पास-विष-शस्त्रादिकस्य च। क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तृतीयं गुणव्रतम् ॥१४२॥

सगसत्तीए महिला-वत्थाहरणाण जं तु परिमाणं।
तं परिभोयणिवुत्ती[४] विदियं[५] सिक्खावयं जाण॥२१८॥(४)

अर्थ – अपनी शक्ति के अनुसार स्त्री-सेवन और वस्त्र-आभूषणों का जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोग-निवृत्ति नाम का द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए॥२१८॥

अतिहिस्स संविभागो तइयं सिक्खावयं मुणेयव्वं।
तत्थ वि पंचहियारा णेया सुत्ताणुमग्गेण॥२१९॥(५)

अर्थ – अतिथि के संविभाग को तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए। इस अतिथिसंविभाग के पाँच अधिकार उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार (निम्न प्रकार) जानना चाहिए॥२१९॥

पत्तंतर दायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं।
दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे॥२२०॥(६)

अर्थ – पात्रों का भेद, दातार, दान-विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दान का फल – ये पाँच अधिकार क्रम से जानना चाहिए॥२२०॥

---

(३) भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्रसत्क्रिया। सल्लेखनेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम्॥१४३॥

यः सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुसुमादिकम्।
तस्य या क्रियते संख्या भोगसंख्यानमुच्यते॥१४४॥ –गुण० श्राव०

४. ब. णियत्ती। ५. झ. विइयं, ब. बीय।

(४) उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्याभरणादिकः। या यथाशक्तितः संख्या सोपभोगप्रमोच्यते॥१४५॥

(५) स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये। यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम्॥१४६॥(६) पात्रं दाता दानविधिर्देयं दानफलं तथा। अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम्॥१४७॥

पात्रभेद-वर्णन

तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण।
वय-णियम-संजमधरो उत्तमपत्तं हवे साहू॥२२१॥(१)

अर्थ – उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्र जानना चाहिए। उनमें व्रत, नियम और संयम का धारण करनेवाला साधु उत्तम पात्र है॥२२१॥

एयारस ठाणठिया मज्झिमपत्तं खु सावया भणिया।
अविरयसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं॥२२२॥(२)

अर्थ – ग्यारह प्रतिमा-स्थानों में स्थित श्रावक मध्यम पात्र कहे गये हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को जघन्य पात्र जानना चाहिए॥२२२॥

वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु।
सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्तं हवे जीओ॥२२३॥(३)

अर्थ – जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, वह कुपात्र है। सम्यक्त्व, शील और व्रत से रहित जीव अपात्र है॥२२३॥

दातार-वर्णन

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया[1] खमा सत्ती[2]।
जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति॥२२४॥(४)

---

(१) पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम्। सर्वसंयमसंयुक्तः साधुः स्यात्पात्रमुत्तमम्॥१४८॥ (२) एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम्। विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम्॥४९॥ (३) तपःशीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम्। अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतपःशीलविवर्जितम्॥१५०॥ गुण० श्रा०

१. ब. मलुद्धदया। २. प. ध. सत्तं। (४) श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टिः शक्तिरलुब्धता। क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते॥१५१॥

अर्थ – जिस दातार में श्रद्धा, शक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण होते हैं, ज्ञानी जन उस दातार की प्रशंसा करते हैं ॥२२४॥

दानविधि-वर्णन

पडिगह[5]मुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मण-वयण-कायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही ॥२२५॥ (५)

अर्थ – प्रतिग्रह अर्थात् पड़िगाहना – सामने जाकर लेना, उच्चस्थान देना अर्थात् ऊँचे आसन पर बैठाना, पादोदक अर्थात् पैर धोना, अर्चा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणा अर्थात् भोजन की शुद्धि – ये नौ प्रकार की दान की विधि हैं ॥२२५॥

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण ॥२२६॥

अर्थ – पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर – खोजकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए' – ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥२२६॥

णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं ॥२२७॥

अर्थ – पुनः अपने घर में ले जाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊँचे स्थान पर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणों को धोना चाहिए ॥२२७॥

पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा।
गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं ॥२२८॥

अर्थ – पवित्र पादोदक को शिर में लगाकर पुनः गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से पूजन करना चाहिए ॥२२८॥

(५) स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा। मनोवाक्कायशुद्ध्या वा शुद्धो दानविधिः स्मृतः ॥१५२॥ गुण० श्राव०

पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा।
चइऊण अट्ट-रुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा ॥२२९॥

अर्थ – तदनन्तर चरणों के सामने पुष्पांजलि क्षेपण कर वंदना करें तथा आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मन:शुद्धि करना चाहिए ॥२२९॥

णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं।
सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि ॥२३०॥

अर्थ – निष्ठुर और कर्कश आदि वचनों के त्याग करने को वचनशुद्धि जानना चाहिए। सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखने वाले दातार के कायशुद्धि होती है ॥२३०॥

***चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए।**
संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी ॥२३१॥

अर्थ – चौदह मल-दोषों से रहित, यत्न से शोधकर संयमी जन को जो आहारदान दिया जाता है, वह एषणा-शुद्धि जानना चाहिए ॥२३१॥

दाणसमयम्मि एवं[1] सुत्तणुसारेण णव विहाणाणि।
भणियाणि मए एण्हिं दायव्वं वण्णइस्सामि ॥२३२॥

विशेषार्थ – नख, जंतु, केश, हड्डी, मल, मूत्र, मांस, रुधिर, चर्म, कंद, फल, मूल, बीज और अशुद्ध आहार ये भोजन-सम्बन्धी चौदह दोष होते हैं। इस प्रकार उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार मैंने दान के समय में आवश्यक नौ विधानों को कहा। अब दातव्य वस्तु का वर्णन करूँगा ॥२३२॥

---

* झ. ध. ब. प्रतिषु गाथेयमधिकोपलम्यते–

णह-जंतु-रोम-अट्ठी-कण-कुंडय-मंस-रुहिर-चम्माइं। कंद-फल-मूल-बीया छिण्ण मला चउद्दसा होंति ॥१॥ – मूलाचार ४८४

१. झ. ब. एयं।

दातव्य-वर्णन

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं।
तं वुच्चइ[2] दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे॥२३३॥

अर्थ – आहार, औषध, शास्त्र और अभय के भेद से जो चार प्रकार का दान है, वह दातव्य कहलाता है, ऐसा उपासकाध्ययन में कहा गया है॥२३३॥

असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो।
पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो॥२३४॥

अर्थ – अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीन प्रकार के पात्र को देना चाहिए॥२३५॥

अइबुड्ढ-बाल-मूयंध-बाहिर-देसंतरीय-रोडाणं[3]।
जहजोग्गं दायव्वं करुणादाण त्ति भणिऊण॥२३५॥

अर्थ – अति वृद्ध, मूक (गूँगा), अंध, वधिर (बहिरा), देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी दरिद्री जीवों को 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा कहकर अर्थात् समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए॥२३५॥

उववास-वाहि-परिसम-किलेस-[4]परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं॥२३६॥

अर्थ – उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए॥२३६॥

आगम-सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा॥२३७॥

अर्थ – जो आगम-शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रों को दिये

---

२. इ. वच्चइ। ३. दरिद्राणाम्। ४. झ. पडि०।

जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए तथा जिन-वचनों का अध्यापन कराना-पढ़ाना भी शास्त्रदान है ॥२३७॥

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥२३८॥

अर्थ – मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सर्व दानों का शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए ॥२३८॥

दानफल-वर्णन

अण्णाणिणो वि जम्हा कज्जं ण कुणंति णिप्फलारंभं।
तम्हा दाणस्स फलं समासदो वण्णइस्सामि ॥२३९॥

अर्थ – चूँकि, अज्ञानीजन भी निष्फल आरम्भ वाले कार्य को नहीं करते हैं, इसलिए मैं दान का फल संक्षेप से वर्णन करूँगा ॥२३९॥

जह उत्तमम्मि खित्ते[1] पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ।
तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ॥२४०॥

अर्थ – जिस प्रकार उत्तम खेत में बोया गया अन्न बहुत अधिक फल को देता है, उसी प्रकार त्रिविध पात्र को दिये गये दान का फल जानना चाहिए ॥२४०॥

जह मज्झिममम्मि खित्ते[2] अप्पफलं होइ वावियं बीयं।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४१॥

अर्थ – जिस प्रकार मध्यम खेत में बोया गया बीज अल्प फल देता है, उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान मध्यम फल वाला जानना चाहिए ॥२४१॥

जह ऊसरम्मि खित्ते[3] पइण्णबीयं ण किं पि[4] रुहेइ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४२॥

१,२,३. झ. ब. छित्ते। ४. झ. किंचि रु होइ, ब. किंपि विरु होइ।

अर्थ – जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया गया बीज कुछ भी नहीं ऊगता है, उसी प्रकार कुपात्र में दिया गया दान भी फल-रहित जानना चाहिए ॥२४२॥

कम्हि [1]अपत्तविसेसे दिण्णं दाणं दुहावहं होइ।
जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं ॥२४३॥

अर्थ – प्रत्युत किसी अपात्रविशेष में दिया गया दान अत्यन्त दुःख का देनेवाला होता है। जैसे विषधर सर्प को दिया गया दूध तीव्र विषरूप हो जाता है ॥२४३॥

मेहावीणं[2] एसा सामण्णपरूवणा मए उत्ता।
इण्हिं पभणामि फलं समासओ मंदबुद्धीणं ॥२४४॥

अर्थ – मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषों के लिए मैंने यह उपर्युक्त दान के फल का सामान्य प्ररूपण किया है। अब मन्द बुद्धिजनों के लिए संक्षेप से (किन्तु पहले की अपेक्षा विस्तार से) दान का फल कहता हूँ ॥२४४॥

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
तस्स फलेणुववज्जइ सो उत्तमभोयभूमीसु ॥२४५॥

अर्थ – जो मिथ्यादृष्टि भद्र अर्थात् मन्दकषायी पुरुष उत्तम पात्र में दान देता है, उसके फल से वह उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होता है ॥२४५॥

जो मज्झिममि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु ॥२४६॥

अर्थ – जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुष मध्यम पात्र में दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमियों में उत्पन्न होता है ॥२४६॥

---

१. झ. ब. उ. पत्त०। २. प्रतिषु 'मेहाविऊण' इति पाठः।

जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७॥

अर्थ – और जो तथाविध अर्थात् उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्र में दान को देता है, वह जीव उस दान के फल से जघन्य भोगभूमियों में उत्पन्न होता है ॥२४७॥

जायइ कुपत्तदाणेण वामदिट्ठी कुभोयभूमीसु।
अणुमोयणेण तिरिया वि उत्तट्ठाणं जहाजोग्गं ॥२४८॥

अर्थ – मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमियों में उत्पन्न होता है। दान की अनुमोदना करने से तिर्यञ्च भी यथायोग्य उपर्युक्त स्थानों को प्राप्त करते हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च उत्तम पात्र दान की अनुमोदना से उत्तम भोगभूमि में, मध्यम पात्रदान की अनुमोदना से मध्यम भोगभूमि में, जघन्य पात्रदान की अनुमोदना से जघन्य भोगभूमि में जाता है, इसी प्रकार कुपात्र और अपात्र दान की अनुमोदना से भी तदनुकूल फल को प्राप्त होता है ॥२४८॥

बद्धाउगा सुदिट्ठी[1] अणुमोयणेण तिरिया वि।
णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु ॥२४९॥

अर्थ – बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्था में पहिले मनुष्यायु को बाँध लिया है और पीछे सम्यग्दर्शन को उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देने से और उक्त प्रकार के ही तिर्यंच पात्र-दान की अनुमोदना करने से नियम से वे उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं ॥२४९॥

तत्थ वि दहप्पयारा कप्पदुमा दिंति उत्तमे भोए।
खेत्त[2] सहावेण सया पुव्वज्जियपुण्णसहियाणं ॥२५०॥

---

१. इ. सद्दिट्ठी, ब. सदिट्ठी। २. झ. ब. छित्त०। इ. छेत्त०।

अर्थ – उन भोगभूमियों में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं, जो पूर्वोपार्जित पुण्य-संयुक्त जीवों को क्षेत्रस्वभाव से सदा ही उत्तम भोगों को देते हैं ॥२५० ॥

मज्जंग-तूर-भूसण-जोइस-गिह-भायणंग-दीवंगा।
वत्थंग-भोयणंगा मालंगा सुरतरू दसहा ॥२५१ ॥

अर्थ – मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, ज्योतिरांग, गृहांग, भाजनांग, दीपांग, वस्त्रांग, भोजनांग और मालांग – ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं ॥२५१ ॥

अइसरसमइसुगंधं दिट्ठं[३] चि य जं[४] जणेइ अहिलासं।
इंदिय-बलपुट्ठियरं मज्जंगा पाणयं दिंति ॥२५२ ॥

अर्थ – अति सरल, अति सुगन्धित, और जो देखने मात्र से ही अभिलाषा को पैदा करता है, ऐसा इन्द्रिय-बल का पुष्टि कारक पानक (पेय पदार्थ) मद्यांगवृक्ष देते हैं ॥२५२ ॥

तय-वितय घणं सुसिरं वज्जं पूरंगपायवा दिंति।
तरमउड-कुंडलाइय-आभरणं भूसणदुमा वि ॥२५३ ॥

अर्थ – तूर्यांग जाति के कल्पवृक्ष तत, वितत, घन और सुषिर स्वरवाले बाजों को देते हैं। भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम मुकुट, कुण्डल आदि आभूषणों को देते हैं ॥२५३ ॥

ससि-सूरपयासाओ अहियपयासं कुणंति जोइदुमा।
णाणाविहपासाए दिंति सया गिहदुमा दिव्वे ॥२५४ ॥

अर्थ – ज्योतिरांग जाति के कल्पवृक्ष चन्द्र और सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश को करते हैं। गृहांग जाति के कल्पवृक्ष सदा नाना प्रकार के दिव्य प्रासादों (भवनों) को देते हैं ॥२५४ ॥

---

३. झ. प. दिट्ठविय। ४. झ. 'जं' इति पाठो नास्ति।

कच्चोल[5]-कलस-थालाइयाइं भायणदुमा पयच्छंति।
उज्जोयं दीवदुमा कुणंति गेहस्स मज्झम्मि ॥२५५॥

अर्थ – भाजनांग जाति के कल्पवृक्ष वाटली, कलश, थाली आदि भाजनों को देते हैं। दीपांग जाति के कल्पवृक्ष घर के भीतर प्रकाश को किया करते हैं ॥२५५॥

वर-पट्ट-चीण-खोमाइयाइं वत्थाइं दिंति वत्थदुमा।
वर-चउविहमाहारं भोयणरुक्खा पयच्छंति ॥२५६॥

अर्थ – वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम रेशमी, चीनी और कोशे आदि के वस्त्रों को देते हैं। भोजनांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम चार प्रकार के आहार को देते हैं ॥२५६॥

वर बहुल[6] परिमलामोयमोइयासामुहाउ मालाओ।
मालादुमा पयच्छंति विविहकुसुमेहिं रइयाओ ॥२५७॥

अर्थ – मालांग जाति के कल्पवृक्ष नाना प्रकार के पुष्पों से रची हुई और प्रवर, बहुल, परिमल सुगंध से दिशाओं के मुखों को सुगंधित करनेवाली मालाओं को देते हैं ॥२५७॥

उक्किट्ठभोयभूमीसु जे णरा उदय-सुज्ज-समतेया।
छधणुसहस्सुत्तुंगा हुंति तिपल्लाउगा सव्वे ॥२५८॥

अर्थ – उत्तम भोगभूमियों में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे सब उदय होते हुए सूर्य के समान तेजवाले, छह हजार धनुष ऊँचे और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं ॥२५८॥

देहस्सुच्चत्तं मज्झिमासु चत्तारि धणुसहस्साइं।
पल्लाणि दुण्णि आऊ पुण्णिंणदुसमप्पहा पुरिसा ॥२५९॥

अर्थ – मध्यम भोगभूमियों में देह की ऊँचाई चार हजार धनुष

---

५. ब. कंचोल। ६. ब. बहल।

है, दो पल्य की आयु है, और सभी पुरुष पूर्णचन्द्र के समान प्रभावाले होते हैं ॥२५९॥

दोधणुसहस्सुत्तुंगा[1] मणुया पल्लाउगा जहण्णासु।
उत्तत्तकणयवण्णा[2] हवंति पुण्णाणुभावेण ॥२६०॥

अर्थ – जघन्य भोगभूमियों में पुण्य के प्रभाव से मनुष्य दो हजार धनुष ऊँचे, एक पल्य की आयुवाले और तपाये गये स्वर्ण के समान वर्णवाले होते हैं ॥२६०॥

जे पुण कुभोयभूमीसु सक्कर-समसायमट्टियाहारा[3]।
फल-पुप्फाहारा केई तत्थ पल्लाउगा सव्वे ॥२६१॥

अर्थ – जो जीव कुभोगभूमियों में उत्पन्न होते है, उनमें से कितने ही वहाँ पर स्वभावतः उत्पन्न होने वाली शक्कर के समान स्वादिष्ट मिट्टी का आहार करते हैं, और कितने ही वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फल-पुष्पों का आहार करते हैं और ये सभी जीव एक पल्य की आयु वाले होते हैं ॥२६१॥

जायंति जुयल-जुयला उणवण्णदिणेहिं जोव्वणं तेहिं।
समचउरससंठाणा वरवज्जसरीरसंघयणा[4] ॥२६२॥

अर्थ – भोगभूमि में जीव युगल-युगलिया उत्पन्न होते हैं और वे उनचास दिनों में यौवन दशा को प्राप्त हो जाते हैं। वे सब समचतुरस्र संस्थान वाले और श्रेष्ठ वज्रवृषभशरीर संहनन वाले होते हैं ॥२६२॥

बाहत्तरि[5]-कलसहिया चउसट्ठिगुणेण्णया तणुकसाया।
बत्तीसलक्खणधरा उज्जमसीला विणीया य ॥२६३॥

अर्थ – वे भोगभूमियाँ पुरुष जीव बहत्तर कला-सहित और स्त्रियाँ चौंसठ गुणों से समन्वित, मन्दकषायी, बत्तीस लक्षणों के धारक, उद्यमशील और विनीत होते हैं ॥२६३॥

१. इ. सहसा तुंगा। २. म. उत्तमकंचणवण्णा। ३. इ-मट्टियायारा। ४. म. – संहणणा। ५. इ. वावत्तर, झ. ब. बावत्तरि।

णवमासाउगि सेसे गब्भं धरिऊण सुइ[६]-समयम्हि।
सुहमिच्चुणा मरित्ता णियमा देवत्तु पावंति॥२६४॥

अर्थ – नौ मास आयु के शेष रह जाने पर गर्भ को धारण करके प्रसूति-समय में सुख मृत्यु से मरकर नियम से देवपने को पाते हैं॥२६४॥

जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स।
जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा॥२६५॥

अर्थ – जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकार के पात्रों को दान देने के फल से स्वर्गों में महर्द्धिक देव होते हैं॥२६५॥

अच्छरसयमज्झगया तत्थाणुहविऊण विविहसुरसोक्खं।
तत्तो चुया समाणा[७] मंडलियाईसु जायंते[८]॥२६६॥

अर्थ – वहाँ पर सैकड़ों अप्सराओं के मध्य में रहकर नाना प्रकार के देव-सुखों को भोगकर आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर मांडलिक राजा आदिकों में उत्पन्न होते हैं॥२६६॥

तत्थ वि बहुप्पयारं मणुयसुहं भुंजिऊण णिव्विग्घं।
विगदभया[९] वेरग्गकारणं किंचि दट्ठूण॥२६७॥

पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं संजमं ण घित्तूण।
उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं॥२६८॥

अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण[१०]।
सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा॥२६९॥

अर्थ – वहाँ पर भी नाना प्रकार के मनुष्य-सुखों को निर्विघ्न भोगकर भय-रहित होते हुए वे कोई भी वैराग्य का कारण देखकर

---

६. इ सूय०। ७. इ. समाण, झ. समासा। ८. प. जायंति। ९. ब. विगदब्भयाइ। १०. ब. लहिओ।

प्रतिबुद्धित हो, राज्यलक्ष्मी को छोड़कर और संयम को ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञान को उत्पन्न कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुनः पुनः प्राप्तकर सात-आठ भव के पश्चात् नियम से कर्मक्षय को करते हैं ॥२६७-२६९ ॥

एवं पत्तविसेसं दाणविहाणं फलं च णाऊण।
अतिहिस्स संविभागो कायव्वो देसविरदेहिं[1] ॥२७० ॥

अर्थ - इस प्रकार पात्र की विशेषता को, दान के विधान को और उसके फल को जानकर देशविरती श्रावकों को अतिथि का संविभाग अर्थात् दान अवश्य करना चाहिए ॥२७० ॥

सल्लेखना-वर्णन

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं।
सगिहे जिणालए वा तिविहाहारस्स वोसरणं ॥२७१ ॥

जं कुणइ गुरुसयासम्मि[2] सम्ममालोइऊण तिविहेण।
सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं ॥२७२ ॥

अर्थ - वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर और अविशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप में मन-वचन-काय से अपनी भले प्रकार आलोचना करके पान के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है, उसे उपासकाध्ययनसूत्र में सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है ॥२७१-२७२ ॥

एवं वारसभेयं वयठाणं वण्णियं मए विदियं[3]।
सामाइयं तइज्जं[4] ठाणं संखेवओ वोच्छं ॥२७३ ॥

अर्थ - इस प्रकार बारह भेद वाले दूसरे व्रतस्थान का मैंने वर्णन

---

१. प. विरएहिं। २. इ. पयासिम्मि। ३. इ. विइयं, ब. बीयं। ४. इ. तइयं, म. तिदीयं।

किया। अब सामायिक नाम के तीसरे स्थान को मैं संक्षेप में कहूँगा ॥२७३॥

सामायिकप्रतिमा

***होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो।**
अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा ॥२७४॥

जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चंपि।
खं वंदणं तियालं कीरइ[1] सामाइयं तं खु॥२७५॥

अर्थ – स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सन्मुख होकर, अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंच परमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल वंदना की जाती है, वह सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमास्थान है ॥२७४-२७५॥

काउस्सग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तु-मित्तं च।
संजोय-विप्पजोयं तिण-कंचण-चंदणं वासिं[2] ॥२७६॥

जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंचणवयारं।
वर-अट्ठपाडिहेरेहिं संजुयं जिणसरूवं च ॥२७७॥

सिद्धसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं।
खणमेक्कमविचलंगो उत्तमसामाइयं तस्स ॥२७८॥

अर्थ – जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, इष्टवियोग-अनिष्ट संयोग को, तृण-कांचन को, चन्दन को

---

१. झ. करेइ।

** वैयग्र्यं त्रिविधं त्यक्त्वा त्यक्त्वाऽऽरम्भपरिग्रहम्। स्नानादिना विशुद्धांगशुद्ध्या सामायिकं भजेत् ॥१६४॥*

गेहे जिनालयेऽन्यत्र प्रदेशे वाऽनघे शुचौ। उपविष्टः स्थितो वापि योग्यकालसमाश्रितम् ॥१६५॥

कायोत्सर्गस्थितो भूत्वा ध्यायेत्पंचपदीं हृदि। गुरून् पञ्चाथवा सिद्धस्वरूपं चिन्तयेत्सुधीः ॥१६७॥ २. कुठारं।

और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण कर उत्तम अंष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हन्त जिनके स्वरूप को और सिद्ध भगवान के स्वरूप का ध्यान करता है अथवा संवेग-सहित अविचल-अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है ॥२७६-२७८ ॥

एवं तइयं ठाणं भणियं सामाइयं समासेण।
पोसहविहिं चउत्थं ठाणं एत्तो पवक्खामि ॥२७९ ॥

अर्थ – इस प्रकार सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमास्थान संक्षेप से कहा। अब इससे आगे प्रोषधविधि नाम के चौथे प्रतिमास्थान को कहूँगा ॥२७९ ॥

प्रोषधप्रतिमा

उत्तम-मज्झ-जहण्णं[1] तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु[2] कायव्वं ॥२८० ॥**

अर्थ – उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का प्रोषध-विधान कहा गया है। यह श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार एक मास के चारों पर्वों में करना चाहिए ॥२८० ॥

सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि।
भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं ॥२८१ ॥
पक्खालिऊण वयणं कर-चरणे णियमिऊण तत्थेव।
पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ॥२८२ ॥
गुरुपुरओ किदियम्मं[3] वंदणपुव्वं कमेण काऊण।
गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ॥२८३ ॥

---

१. इ. मज्झम-जहणं। २. प. पव्वसु।

*** मासे चत्वारि पर्वाणि प्रोषधाख्यानि तानि च। यत्तत्रोपोषणं प्रोषधौपवासस्तदुच्यते ॥१६९ ॥*
– गुण० श्राव० ३. ब. किरियम्मि। २. ध. झ. ब. प्रतिषु 'णाऊण' इति पाठः।

वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं।
णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा ॥२८४॥

रयणि समयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए।
पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ॥२८५॥

दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण[२] जिणालए णियधरे वा।
अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेऊण ॥२८६॥

पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता।
तह दव्व-भावपुज्जं जिण-सुय-साहूण काऊण ॥२८७॥

उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण।
पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ॥२८८॥

गंतूण णिचयगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण।
जो भुंजइ तस्स फुडंपोसहविहि उत्तमं होइ ॥२८९॥*

अर्थ – सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथिजन के भोजन के अन्त में स्वयं भोज्य वस्तु का भोजनकर वहीं पर मुख-शुद्धि को करके, मुख को और हाथ-पैरों को धोकर वहाँ पर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र-भवन जाकर और जिनभगवान् को नमस्कार करके गुरु के सामने वन्दनापूर्वक क्रम से कृतिकर्म को करके, गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्यागरूप उपवास को

** उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा। यथाशक्तिर्विधातव्यः कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥१७०॥ सप्तम्यां च त्रयोदश्यां जिनार्चा पात्रसत्क्रियाम्। विधाय विधिवच्चैकभक्तं शुद्धवपुस्ततः ॥१७१॥ गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम्। स्वीकृत्य निखिलां रात्रिं नयेच्च सत्कथानकैः ॥१७२॥ प्रातः पुनः शुचिर्भूत्वा निर्माप्यार्हत्पूजनम्। सोत्साहस्तदहोरात्रं सद्ध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥१७३॥ तत्पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्चां पात्रसत्क्रियाम्। स्वयं वा चैकभक्तं यः कुर्यात्तस्योत्तमो हि सः ॥१७४॥ मध्यमोऽपि भवेदेवं स त्रिधाहारवर्जनम्। जलं मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥१७५॥*

ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा-चिन्तन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा आपराह्निक-वंदना करके, रात्रि के समय अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग से स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन (संशोधन) करके और अपने शरीर के प्रमाण बिस्तर लगाकर रात्रि में कुछ समय तक जिनालय अथवा घर में सोकर अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्ग से बिताकर प्रातःकाल उठकर वंदनाविधि से जिनभगवान् को नमस्कार कर तथा देव, शास्त्र और गुरु का द्रव्य वा भाव पूजन करके पूर्वोक्त विधान से उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रि को फिर भी बिताकर पारणा के दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासी को पुनः पूर्व के समान पूजन करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथि को आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चय से उत्तम प्रोषधविधि होती है ॥२८१-२८९॥

जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता[1] वज्जए सेसं ॥२९०॥

अर्थ – जिस प्रकार का उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकार का मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए ॥२९०॥

मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं।
जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ॥२९१॥

अर्थ – जरूरी कार्य को समझकर सावद्य-रहित अपने गृह आरम्भ को यदि करना चाहे तो उसे भी कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्व के समान ही जानना चाहिए ॥२९१॥

---

१. ब. छड्डित्ता।

आयंबिलं[1] णिव्वयडी[2] एयट्ठाणं च एयभत्तं वा।
जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं॥२९२॥*

अर्थ – जो अष्टमी आदि पर्व के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्त को करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए॥२९२॥ (विशेषार्थ परिशिष्ट में देखो।)

****सिरण्हाणुव्वट्टण-गंध-मल्लकेसाइदेहसंकप्पं।**
अण्णं पि रागहेउं विवज्जए पोसहदिणम्मि॥२९३॥

अर्थ – प्रोषध के दिन शिर से स्नान करना, उबटना करना, सुगंधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदि का सजाना, देह का संस्कार करना, तथा अन्य भी राग के कारणों को छोड़ देना चाहिए॥२९३॥

एचं चउत्थठाणं विवण्णियं पोसहं समासेण।
एत्तो कमेण सेसाणि सुणह संखेवओ वोच्छं॥२९४॥

अर्थ – इस प्रकार प्रोषध नाम का चौथा प्रतिमास्थान संक्षेप से वर्णन किया। अब इससे आगे शेष प्रतिमास्थानों को संक्षेप से कहूँगा, सो सुनो॥२९४॥

---

१. आयंबिल-अम्लं चतुर्थो रसः, स एव प्रायेण व्यंजने यत्र भोजने ओदन-कुल्माषो-सक्तुप्रभृतिके तदाचामाम्लम्। आयंबिलमपि तिविहं उक्किट्ठ-जहण्ण-मज्झिमभेदेहिं। तिविहं जं विउलपूवाइ पकप्पए तत्थ॥१०२॥

मिय-सिधंव-सुंठि मिरीमेही सोवच्चलं च विडलवणे। हिंगुसुगंधिसु पाए पकप्पए साइयं वत्थु॥१०३॥ – अभिधानराजेन्द्र।

२. ब. णिग्घियडी।

** स्नानमुद्वर्त्तनं गन्धं माल्यं चैव विलेपनम्। यच्चान्यद् रागहेतुः स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोषधोऽखिलम्॥१७६॥*

*** मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम्। अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही॥१७८॥ – गुण० श्राव०*

सचित्तत्यागप्रतिमा

जं वज्जिज्जइ हरियं तुय[3]-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं॥२९५॥*

अर्थ – जहाँ पर हरित त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है, वह सचित्त-विनिवृत्ति वाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान है॥२९५॥

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा

मण-वयण-काय-कय-[4]कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो॥२९६॥(१)

अर्थ – जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना-इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुणस्थान में छठा श्रावक है अर्थात् छठी प्रतिमाधारी है॥२९६॥

ब्रह्मचर्यप्रतिमा

पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा[5] विवज्जंतो।
इत्थिकहाइणिवित्तो[6] सत्तमगुणवंभयारी सो॥२९७॥(२)

अर्थ – जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के मैथुन का सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदि से भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवें प्रतिमारूप गुण का धारी ब्रह्मचारी श्रावक है॥२९७॥

आरम्भनिवृत्तप्रतिमा

जं किंचि गिहारंभं बहु भोगं[1] वा सया विवज्जेइ।
आरंभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ॥२९८॥(१)

---

३. इ. झ. तय०। ४. ब. किरियाणु०। (१) स दिवा-ब्रह्मचारी यो दिवा स्त्रीसंगमं त्यजेत्। ५. ब. सव्वहा। ६. झ. ब. णियत्तो। (२) स सदा ब्रह्मचारी यः स्त्रीसंगं नवधा त्यजेत्॥२७९॥

अर्थ – जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ होता है, उसे जो सदा के लिए त्याग करता है, वह आरम्भ से निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भत्यागी आठवाँ (प्रतिमाधारी) श्रावक कहा गया है ॥२९८॥

परिग्रहत्यागप्रतिमा

मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥२९९॥ (२)

अर्थ – जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता है, उसे परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी नवाँ (प्रतिमाधारी) श्रावक जानना चाहिए ॥२९९॥

अनुमतित्यागप्रतिमा

पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहि परेहिं च सगिहकज्जमि।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥३००॥ (३)

अर्थ – स्वजनों से और परजनों से पूछा गया जो श्रावक अपने गृह-सम्बन्धी कार्य में अनुमोदना नहीं करता है, उसे अनुमतित्याग प्रतिमाधारी दसवाँ श्रावक जानना चाहिए ॥३००॥

---

१. झ. थोवं।

(१) सः स्यादारम्भविरतो विरमेद्योऽखिलादपि।
पापहेतोः सदाऽऽरम्भात्सेवाकृष्यादिकात्सदा ॥१८०॥

(२) निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रं यः स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत्।
बाह्यं परिग्रहं स स्याद्विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥१८१॥

(३) पृष्टोऽपृष्टोऽपि नो दत्तेऽनुमतिं पापहेतुके।
ऐहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु सः ॥१८२॥ –गुण० श्राव०

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ[2] ॥३०१॥ (४)

अर्थ – ग्यारहवें प्रतिमास्थान में गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं, प्रथम एक वस्त्र का रखनेवाला और दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रहवाला ॥३०१॥

*** धम्मिल्लाणं चयणं[3] करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो।**
ठाणाइसु पडिलेहइ[4] उवयरणेण पयडप्पा ॥३०२॥

अर्थ – प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (जिसे कि क्षुल्लक कहते हैं) धम्मिल्लों का चयन अर्थात् हजामत कैंची से अथवा उस्तरे से कराता है। तथा, प्रयत्नशील या सावधान होकर पीछी आदि उपकरण से स्थान आदि का प्रतिलेखन अर्थात् संशोधन करता है ॥३०२॥

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो।
उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥३०३॥

अर्थ – पाणि–पात्र में या थाली आदि भाजन में (आहार रखकर) एक बार बैठकर भोजन करता है। किन्तु चारों पर्वों में चतुर्विध आहार को त्यागकर उपवास नियम से करता है ॥३०३॥

---

(४) गेहादि व्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः। भैक्ष्याशीः यस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि सः ॥१८३॥

३. ब. वयणं। ४. ब. लेहइ मि।

** उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्यादाद्यो वस्त्रखण्डभाक्। संमूर्ध्वजानां वपनं कर्त्तनं चैव कारयेत् ।१८॥।*

गच्छेन्नाकारितो भोक्तुं कुर्याद्भिक्षां यथाशनम्।
पाणिपात्रेऽन्यपात्रं वा भजेद्भुक्तिं निविष्टवान् ॥१८५॥

भुक्त्वा प्रक्षाल्य पादं (त्रं) च गत्वा च गुरुसन्निधिम्।
चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ॥१८६॥ –गुण० श्रा०

पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ॥३०४॥

अर्थ – पात्र को प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर में प्रवेश करता है और आँगन में ठहरकर 'धर्म-लाभ' कहकर स्वयं ही भिक्षा माँगता है ॥३०४॥

सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ।
अण्णमि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं[1] वा ॥३०५॥

अर्थ – भिक्षा-लाभ के अलाभ में अर्थात् भिक्षा न मिलने पर, अदीन-मुख वहाँ से शीघ्र निकलकर दूसरे घर में जाता है और मौन से अपने शरीर को दिखलाता है ॥३०५॥

जइ अद्धवहे[2] कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह।
भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं ॥३०६॥

अर्थ – यदि अर्ध-पथ में अर्थात् मार्ग के बीच में ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घर में प्राप्त अपनी भिक्षा को खाकर, शेष अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावक के अन्न को खावे ॥३०६॥

अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं ॥३०७॥

अर्थ – यदि कोई भोजन के लिए न कहे, तो अपने पेट के पूरण करने के प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे अर्थात् अन्य अन्य श्रावकों के घर जावे। आवश्यक भिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् किसी एक घर में जाकर प्रासुक जल माँगें ॥३०७॥

जं किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण।
पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जा गुरुसयासम्मि ॥३०८॥

---

१. ब. कायव्वं। २. प. अट्ठवहे।

अर्थ – जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोधकर भोजन करें और यत्न के साथ अपने पात्र को प्रक्षालन कर गुरु के पास में जावे ॥३०८॥

जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि[३] चरियाए।
पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं[४] ता कुज्जा ॥३०९॥

अर्थ – यदि किसी को उक्त विधि से गोचरी करना न रुचे, तो वह मुनियों के गोचरी कर जाने के पश्चात् चर्या के लिए प्रवेश करे, अर्थात् एक भिक्षा के नियम वाला उत्कृष्ट श्रावक चर्या के लिए किसी श्रावक जन के घर में जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले, तो उसे प्रवृत्ति-नियमन करना चाहिए अर्थात् फिर किसी के घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए॥३०९॥

गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा।
गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ॥३१०॥*

अर्थ – पश्चात् गुरु के समीप जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध (आहार के त्यागरूप) प्रत्याख्यान ग्रहण कर पुनः प्रयत्न के साथ सर्व दोषों की आलोचना करें॥३१०॥

एमेव होइ बिइओ णवरिविसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्जं पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥३११॥ (१)

अर्थ – इस प्रकार ही अर्थात् प्रथम उत्कृष्ट श्रावक के समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है, केवल विशेषता यह है कि उसे नियम से केशों का लोंच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्र में खाना चाहिए॥३११॥

---

३. काउंरिसिगोहणम्मि। ४. ध. णियमेणं।

(१) द्वितीयोऽपि भवेदेवं स तु कौपीनमात्रवान्। कुर्याल्लोचं धरेत्पिच्छं पाणिपात्रेऽशनं भजेत् ॥१८॥

दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं[1] ॥३१२॥(१)

अर्थ – दिन में प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकाल योग अर्थात् गर्मी में पर्वत के शिखर पर, बरसात में वृक्ष के नीचे, और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धान्तग्रन्थों का अर्थात् केवली, श्रुतकेवली-कथित गणधर, प्रत्येक बुद्ध और अभिन्नदशपूर्वी साधुओं से निर्मित ग्रन्थों का अध्ययन और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन, इतने कार्यों में देशविरती श्रावकों का अधिकार नहीं है ॥३१२॥

उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण।
एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्तःणुसारेण ॥३१३॥

अर्थ – ग्यारहवें प्रतिमास्थान में उपासकाध्ययन-सूत्र के अनुसार संक्षेप से मैंने उद्दिष्ट आहार के त्यागी दोनों प्रकार के श्रावकों का वर्णन किया ॥३१३॥

रात्रिभोजनदोष-वर्णन

एयारसेसु पढमं वि[2] जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स।
ठाणं ण ठाइ[3] तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा ॥३१४॥

अर्थ – चूँकि, रात्रि को भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियम से रात्रिभोजन का परिहार करना चाहिए ॥३१४॥

---

१. प. ब. विरयाणं।

(१) वीरचर्या-दिनच्छाया सिद्धान्ते निह्नसंश्रुतौ।
त्रैकालिके योऽवयोगेऽस्य विद्यते नाधिकारिता॥ १८८॥ –गुण० श्राव० २. ब. पि। ३. ब. वाइ।

चम्मट्ठि-कीड-उंदुर[४]-भुयंग-केसाइ असणमज्झम्मि।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसिसमये ॥३१५॥

अर्थ –. भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट-पतंग, सर्प और केश आदि रात्रि के समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है; इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा जाता है ॥३१५॥

दीउज्जोयं जइ कुणइ तह वि चउरिंदिया अपरिमाणा।
णिवडंति दिट्ठिराएण मोहिया असणमज्झम्मि ॥३१६॥

अर्थ – यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगें आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य गिरते हैं ॥३१६॥

इयएरिसमाहारं भुंजंतो आदणासमिह लोए।
पाउणइ परभवम्मि चउगइ संसारदुक्खाइं ॥३१७॥

अर्थ – इस प्रकार के कीट-पतंगयुक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपनी आत्मा का या अपने आपका नाश करता है और परभव में चतुर्गतिरूप संसार के दु:खों को पाता है ॥३१७॥

एवं बहुप्पयारं[५] दोसं[६] णिसिभोयणम्मि णाऊण।
तिविहेण राइभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ॥३१८॥

अर्थ – इस प्रकार रात्रिभोजन में बहुत प्रकार के दोष जान करके मन, वचन, काय से रात्रि भोजन का परिहार करना चाहिए ॥३१८॥

श्रावक के अन्य कर्तव्य

विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ॥३१९॥ (२)

---

४. ब. दुदुर। ५. ध. दुंदुर। ध. प्पयारे। ६. ध. दोसे।

(२) विनय: स्याद्वैयावृत्त्यं कायक्लेशस्तथार्चना॥
कर्त्तव्या देशविरतेर्यथाशक्ति यथागमम् ॥१९०॥

अर्थ – देशविरत श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, काय-क्लेश और पूजन-विधान करना चाहिए ॥३१९॥

विनय का वर्णन

दंसण-णाण-चरित्ते तव उवयारम्मि पंचहा विणओ।
पंचमगइगमणत्थं[1] कायव्वो देसविरएण ॥३२०॥ (१)

अर्थ – दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय – यह पाँच प्रकार का विनय पंचमगति गमन अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रावक को करना चाहिए ॥३२०॥

णिस्संकिय-संवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए[2] पुव्वं।
तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ॥३२१॥ (२)

अर्थ – निःशंकित, संवेग आदि जो गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनके परिपालन को दर्शन-विनय जानना चाहिए ॥३२१॥

णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए।
जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥३२२॥(३)

अर्थ – ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदिक में तथा ज्ञानवंत पुरुष में भक्ति के साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञानविनय है ॥३२२॥

पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स।
जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ॥३२३॥

---

१. ध. गमणत्थे।

(१) दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः। विनयः पंचधा स स्यात्समस्तगुणभूषणः ॥१९१॥

२. इ. मया।

(२) निःशंकित्वादयः पूर्वं ये गुणा वर्णिता मया। यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मकः ॥१९२॥

(३) ज्ञाने ज्ञानोपचारे च.....

अर्थ – परमागम में पाँच प्रकार का चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कार को चारित्रविनय जानना चाहिए ॥३२३॥

बालो यं बुड्ढो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं[३]।
जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि[४] ॥३२४॥(४)

अर्थ – यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकार का संकल्प छोड़कर तपस्वी जनों का जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वंदन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना चाहिए ॥३२४॥

उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ तिवियप्पो।
सो पुण दुविहो भणिओ पच्चक्ख-परोक्खभेएण ॥३२५॥(५)

अर्थ – औपचारिक विनय भी मन, वचन, काय के भेद से तीन प्रकार की होती है और वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥३२५॥

जं दुप्परिणामाओ मणं णियत्ताविऊण सुहजोए।
ठाविज्जइ सो विणओ जिणेहि माणस्सिओ भणिओ ॥३२६॥(६)

अर्थ – जो मन को खोटे परिणामों से हटाकर शुभयोग में स्थापन किया जाता है अर्थात् लगाया जाता है, उसे जिन भगवान् ने मानसिक विनय कहा है ॥३२६॥

---

३. म. तवस्सीणं। ४. झ. प. वियाणेहिं।

(४) यहाँ का पाठ मुद्रित प्रति में नहीं है और उसकी आदर्शभूत पंचायती मन्दिर देहली की हस्तलिखित प्रति में भी पत्र टूट जाने से पाठ उपलब्ध नहीं है। –संपादक।

(५) मनोवाक्काय भेदेन.....। प्रत्यक्षेतरभेदेन सापि स्याद्विविधा पुनः।

(६) दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते। मानसं त्वनिशं प्रोक्तो मानसो विनयो हि सः॥१९७॥

हिय-मिय पुज्जं[1] सुत्ताणुवीचि अफरसमकक्कसं वयणं।
संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ॥३२७॥(१)

अर्थ – हित, मित, पूज्य, शास्त्रानुकूल तथा हृदय पर चोट नहीं करने वाले कोमल वचन कहना और संयमीजनों में चाटु (नर्म) भाषण करना, सो वाचिक विनय है॥३२७॥

किरियम्मब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं।
एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं॥३२८॥(२)
कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं।
संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं॥३२९॥
इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो।
जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं॥३३०॥(३)

अर्थ – साधु और श्रावकों का कृतिकर्म अर्थात् वंदना आदि करना, उन्हें देख उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, अंजली जोड़ना, आसन और उपकरण देना, अपनी तरफ आते देखकर उनके सन्मुख जाना, और जाने पर उनके पीछे-पीछे चलना, उनके शरीर के अनुकूल मर्दन करना, समय के अनुसार अनुकरण या आचरण करना, संस्तर आदि करना, उनके उपकरणों का प्रतिलेखन करना, इत्यादिक कायिक विनय है। यह कायिक विनय जिनवचन का अनुकरण करने वाले देशविरती श्रावक को यथायोग्य करना चाहिए॥३२८-३३०॥

---

१. ध. पुज्जा।

(१) वचो हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च। यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः॥१९८॥

(२) गुरुस्तुतिक्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम्। सम्मुखो गमनं चैव तथा वाऽनुव्रजक्रिया॥१९९॥

(३) अंगसंवाहनं योग्यप्रतीकारादिनिर्मितिः। विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि सः॥२००॥

इय पच्चक्खो एसो भणिओ गुरुणा विणा वि आणाए।
अणुवट्टिज्जए जं तं परोक्खविणओ त्ति विण्णेओ ॥३३१ ॥(४)

अर्थ – इस प्रकार से यह तीनों प्रकार का प्रत्यक्ष विनय कहा। गुरु के बिना अर्थात् गुरुजनों के नहीं होने पर भी उनकी आज्ञा के अनुसार मन, वचन, काय से जो अनुवर्तन किया जाता है, वह परोक्ष-विनय है – ऐसा जानना चाहिए ॥३३१ ॥

विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ॥३३२ ॥(५)

अर्थ – विनय से पुरुष शशांक (चन्द्रमा) के समान उज्ज्वल यशःसमूह से दिगन्त को धवलित करता है। विनय से वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय होता है और तथैव आदेयवचन होता है अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं ॥३३२ ॥

जे केइ वि उवएसा इह-परलोए सुहावहा संति।
विणएण गुरुजणाणं[२] सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ॥३३३ ॥(६)

अर्थ – जो कोई भी उपदेश इस लोक और परलोक में जीवों को सुख के देने वाले होते हैं, उन सबको मनुष्य गुरुजनों की विनय से प्राप्त करते हैं ॥३३३ ॥

---

(४) प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा। गुरुंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्तिः धर्मकर्मसु ॥२०१ ॥

(५) शशांकनिर्मला कीर्तिः सौभाग्यं भाग्यमेव च। आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतः सताम् ॥२०२ ॥

२. प्रतिषु 'गुरुजणाओ' इति पाठः।

(६) विनयेन समं किंचिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये। यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥२०३ ॥ -गुण० श्राव०

देविंद-चक्कहर-मंडलीयरायाइ जं सुहं लोए।
तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहा[1] चेव॥३३४॥

अर्थ – संसार में देवेन्द्र, चक्रवर्ती और मांडलिक राजा आदि के जो सुख प्राप्त हैं, वह सब विनय का ही फल है। और इसी प्रकार मोक्ष का सुख पाना भी विनय का ही फल है॥३३४॥

सामण्णा वि य विज्जा ण विणयहीणस्स सिद्धिमुवयाइ।
किं पुण णिव्वुइविज्जा विणयविहीणस्स सिज्झेइ[2] ॥३३५॥

अर्थ – जब साधारण विद्या भी विनय-रहित पुरुष के सिद्धि को प्राप्त नहीं होती है, तो फिर क्या मुक्ति को प्राप्त करनेवाली विद्या विनय-विहीन पुरुष के सिद्ध हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं सिद्ध हो सकती॥३३५॥

सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स।
विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण॥३३६॥(१)

अर्थ – चूँकि, विनयशील मनुष्य का शत्रु भी मित्रभाव को प्राप्त हो जाता है, इसलिए श्रावक को मन, वचन, काय से विनय करना चाहिए॥३३६॥

वैयावृत्त्य का वर्णन

अइबाल-बुड्ढ-रोगाभिभूय-तणुकिलेससत्ताणं।
चाउव्वण्णे संघे जहजोग्गं तह मणुण्णाणं॥३३७॥(२)

कर-चरण-पिट्ठ-सिरसाणं मद्दण-अब्भंग-सेवकिरियाहिं।
उव्वत्तण-परियत्तण-पसारणकुंचणाईहिं॥३३८॥

---

१. प. तहच्चेव। २. इ. सिज्झेह, झ. सिज्झिहइ, ब. सब्भिहइ।

(१) विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयान्ति विनयाद्यतः। तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयतैः॥२०४॥

(२) बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे संघे चतुर्विधे। वैयावृत्यं यथाशक्तिर्विधेयं देशसंयतैः॥२०५॥

पडिजग्गणेहिं[३] तणुजोय-भत्त-पाणेहिं भेसजेहिं तहा।
उच्चराईण विकिंचणेहिं तणुधोवणेहिं च॥३३९॥
संथारसोहणेहि य विज्जावच्चं सया पयत्तेण।
कायव्वं सत्तीए णिव्विदिगिच्छेण भावेण॥३४०॥

अर्थ – मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चार प्रकार के चतुर्विध संघ में अतिबाल, अतिवृद्ध, रोग से पीड़ित अथवा अन्य शारीरिक क्लेश से संयुक्त जीवों का, तथा मनोज्ञ अर्थात् लोक में प्रभावशाली साधु या श्रावकों का यथायोग्य हाथ, पैर, पीठ और सिर का दबाना, तेलमर्दन करना, स्नानादि कराना, अंग सेकना, उठाना, बैठाना, अंग पसारना, सिकोड़ना, करवट दिलाना, सेवा-शुश्रूषा आदि समयोचित कार्यों के द्वारा, शरीर के योग्य पथ्य अन्न-जल द्वारा तथा औषधियों के द्वारा, उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र) आदि के दूर करने से, शरीर के धोने से और संस्तर (बिछौना) के शोधने से सदा प्रयत्नपूर्वक ग्लानि-रहित भाव से शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए॥३३७-३४०॥

णिस्संकिय-संवेगाइय जे गुणा वण्णिया मणो[४] विसया।
ते होंति पायडा पुण[५] विज्जावच्चं करंतस्स॥३४१॥

अर्थ – निःशंकित आदि और संवेग आदि जो मनोविषयक गुण पहले वर्णन किये गये हैं, वे सब गुण वैयावृत्त्य करने वाले जीव के प्रकट होते हैं॥३४१॥

देह-तव-णियम-संजम-सील-समाही य अभयदाणं च।
गइ मइ बलं च दिण्णं विज्जावच्चं करंतेण॥३४२॥ (३)

अर्थ – वैयावृत्त्य को करनेवाले श्रावक के द्वारा देह, तप,

---

३. इ. पडित्तग्गा०, ब. पडिज्जग्ग०। ४. ब. मुणे। ५. ध. गुण।

(३) वपुस्तपोबलं शीलं गति-बुद्धि-समाधयः। निर्मलं नियमादि स्याद्वैयावृत्यकृतार्पणम्॥२०६॥ – गुण० श्रा०

नियम, संयम और शील का समाधान, अभयदान तथा गति, मति और बल दिया जाता है ॥३४२॥

गुणपरिणामो जायइ जिणिंद-आणा य पालिया होइ।
जिणसमय-तिलयभूओ लब्भइ अयतो वि गुणरासी ॥३४३॥

अर्थ – साधु जन और श्रावक आदि जब रोग आदि से पीड़ित होकर अपने व्रत, संयम आदि के पालने में असमर्थ हो जाते हैं। यहाँ तक कि पीड़ा की उग्रता से उनकी गति, मति आदि भी भ्रष्ट होने लगती है और वे मृतप्राय हो जाते हैं। उस समय सावधानी के साथ की गई वैयावृत्ति उनके लिए संजीवनी वटी का काम करती है, वे मरने से बच जाते हैं, गति, मति यथापूर्व हो जाती है और वे पुनः अपने व्रत, तप, संयम आदि की साधना के योग्य हो जाते हैं।

इसलिए ग्रन्थकार ने यह ठीक ही कहा है कि जो वैयावृत्त्य करता है, वह रोगी साधु आदि को अभयदान, व्रत-संयम-समाधान और गति-मति प्रदान करता है, यहाँ तक कि वह जीवन-दान तक देता है, और इस प्रकार वैयावृत्त्य करने वाला सातिशय अक्षय पुण्य का भागी होता है। वैयावृत्त्य करने से गुण-परिणमन होता है अर्थात् नवीन सद्गुणों का प्रादुर्भाव और विकास होता है, जिनेन्द्र-आज्ञा का परिपालन होता है, और अयत्न अर्थात् प्रयत्न के बिना भी गुणों का समूह प्राप्त होता है तथा वह जिन-शासन का तिलकभूत प्रभावक व्यक्ति होता है ॥३४३॥

भमइ जए जसकित्ती सज्जणसुइ-हियय-णयण-सुहजणणी।
अण्णेवि य होंति गुणा विज्जवच्चेण इहलोए ॥३४४॥(१)

अर्थ – सज्जन पुरुषों के श्रोत्र, नयन और हृदय को सुख देनेवाली उसकी यशःकीर्ति जग में फैलती है तथा अन्य भी बहुत से गुण वैयावृत्त्य से इस लोक में प्राप्त होते हैं ॥३४४॥

---

(१) वैयावृत्यकृतः किञ्चिद्दुर्लभं न जगत्त्रये। विद्या कीर्तिः यशो लक्ष्मीः धीः सौभाग्यगुणेष्वपि ॥२०७॥ –गुण० श्रा०

परलोए वि सरूवो चिराउसो रोय-सोय-परिहीणो।
बल-तेय-सत्तजुत्तो जायइ अखिलप्पयाओ वा॥३४५॥

अर्थ – वैयावृत्त्य के फल से परलोक में भी जीव सुरूपवान, चिरायुष्क, रोग-शोक से रहित, बल, तेज और सत्त्व से युक्त तथा पूर्ण प्रतापी होता है॥३४५॥

जल्लोसहि-सव्वोसहि-अक्खीणमहाणसाइरिद्धीओ।
अणिमाइगुणा य तहा विज्जावच्चेण पाउणइ॥३४६॥

अर्थ – वैयावृत्त्य से जल्लौषधि, सर्वौषधि और अक्षीण-महानस आदि ऋद्धियाँ तथा अणिमा आदि अष्ट गुण प्राप्त होते हैं॥३४६॥

किं जंपिएण बहुणा तिलोहसंखोहकारयमहंतं।
तित्थयरणामपुण्णं विज्जावच्चेण अज्जेइ॥३४७॥

अर्थ – अधिक कहने से क्या, वैयावृत्त्य करने से यह जीव तीन लोक में संक्षोभ अर्थात् हर्ष और आश्चर्य को करानेवाला महान तीर्थंकर नाम का पुण्य उपार्जन करता है॥३४७॥

तरुणियण-णयण-मणहारिरूव-बल-तेय-सत्तसंपण्णो।
जाओ विज्जावच्चं पुव्वं काऊण वसुदेवो॥३४८॥

अर्थ – वसुदेव का जीव पूर्वभव में वैयावृत्त्य कर तरुणी जनों के नयन और मन को हरण करनेंवाले रूप, बल, तेज और सत्त्व से सम्पन्न वासुदेव नाम का कामदेव हुआ॥३४८॥

वारवाईए[1] विज्जविच्चं किच्चा असंजदेणावि।
तित्थयरणामपुण्णं समज्जियं वासुदेवेण॥३४९॥

अर्थ – द्वारावती में व्रत-संयम से रहित असंयत भी वासुदेव श्रीकृष्ण ने वैयावृत्त्य करके तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का उपार्जन किया॥३४९॥

---

१. द्वारावत्याम्।

एवं णाऊण फलं विज्जावच्चस्स परमभत्तीए।
णिच्छयजुत्तेण सया कायव्वं देसविरएण ॥३५०॥

अर्थ – इस प्रकार वैयावृत्त्य के फल को जानकर दृढ़ निश्चय होकर परम भक्ति के साथ श्रावक को सदा वैयावृत्त्य करना चाहिए ॥३५०॥

कायक्लेश का वर्णन

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं।
जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो ॥३५१॥ (१)

अर्थ – आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान (एकाशन), चतुर्थभक्त अर्थात् उपवास, षष्ठ भक्त अर्थात् वेला, अष्टमभक्त अर्थात् तेला आदि के द्वारा जो शरीर को कृश किया जाता है, उसे कायक्लेश जानना चाहिए ॥३५१॥

मेहाविणरा एएण चेव बुज्झंति[1] बुद्धिविहवेण।
ण य मंदबुद्धिणो तेण किं पि वोच्छामि सविसेसं ॥३५२॥

अर्थ – बुद्धिमान् मनुष्य तो इस संक्षिप्त कथन से ही अपनी बुद्धि के वैभव द्वारा कायक्लेश के विस्तृत स्वरूप को समझ जाते हैं। क़िन्तु मन्दबुद्धि जन नहीं समझ पाते हैं, इसलिए कायक्लेश का कुछ विस्तृत स्वरूप कहूँगा ॥३५२॥

पंचमी व्रत का वर्णन

आसाढ कत्तिए फग्गुणे य सियपंचमीए गुरुमूले।
गहिऊण विहिं विहिणा पुव्वं काऊण जिणपूजा[2] ॥३५३॥

पडिमासमेक्कखमणेण जाव वासाणि पंच मासा य।
अविच्छिण्णा[3] कायव्वा मुत्तिसुहं जायमाणेण ॥३५४॥

अर्थ – आषाढ़, कार्त्तिक या फाल्गुन मास में शुक्ला पंचमी के दिन पहले जिन-पूजन को करके पुनः गुरु के पाद-मूल में विधिपूर्वक

---

१. ब. वुब्भंतिं। २. प. पुज्जा। ३. ध. अविछिण्णा।

विधि को ग्रहण करके, अर्थात् उपवास का नियम लेकर, प्रतिमास एक क्षमण के द्वारा अर्थात् एक उपवास करके पाँच वर्ष और पाँच मास तक मुक्ति-सुख को चाहनेवाले श्रावकों को अविच्छिन्न अर्थात् बिना किसी नागा के लगातार यह पंचमीव्रत करना चाहिए॥३५३-३५४॥

अवसाणे पंच घडाविऊण पडिमाओ जिणवरिंदाणं।
तह पंच पोत्थयाणि य लिहाविऊणं ससत्तीए॥३५५॥
तेसिं पइट्ठयाले जं किं पि पइट्ठजोग्गमुवयरणं।
तं सव्वं कायव्वं पत्तेयं पंच पंच संखाए॥३५६॥

अर्थ – व्रत पूर्ण हो जाने पर जिनेन्द्र भगवान् की पाँच प्रतिमाएँ बनवाकर तथा पाँच पोथियों (शास्त्रों) को लिखाकर अपनी शक्ति के अनुसार उनकी प्रतिष्ठा के लिए जो कुछ भी प्रतिष्ठा के योग्य उपकरण आवश्यक हों, वे सब प्रत्येक पाँच पाँच की संख्या से बनवाना चाहिए॥३५५-३५६॥

सहिरण्ण पंचकलसे पुरओ वित्थारिऊण वत्थमुहे।
पक्कण्णं बहुभेयं फलाणि विविहाणि तह चेव॥३५७॥
दाणं च जहाजोग्गं दाऊण चउव्विहस्स संघस्स।
उज्जवणविही एवं कायव्वा देसविरयेण॥३५८॥

अर्थ – हिरण्य-सुवर्ण सहित अर्थात् जिनके भीतर सोना, चाँदी, माणिक आदि रखे गये हैं और जिनके मुख वस्त्र से बँधे हुए हैं – ऐसे पाँच कलशों को जिनेन्द्र-वेदिका के सामने रखकर, तथैव नानाप्रकार के पकवान और विविध फलों को भी रखकर और चतुर्विध संघ को यथायोग्य दान देकर देशविरत श्रावकों को इस प्रकार व्रत उद्यापन विधि करना चाहिए॥३५७-३५८॥

उज्जवणविही ण तरइ काउं जइ को वि अत्थपरिहीणो।
तो विउणा कायव्वा उववासविही पयत्तेण॥३५९॥

अर्थ – यदि कोई धन-हीन श्रावक उद्यापन की विधि करने के लिए समर्थ न हो तो उसे विधिपूर्वक यत्न के साथ उपवास-विधि दुगुनी करना चाहिए ॥३५९॥

जइ अंतरम्मि कारणवसेण एक्को व दो व उववासा[1]।
ण कओ तो मूलाओ पुणो वि सा होइ कायव्वा ॥३६०॥

अर्थ – यदि व्रत करते हुए बीच में किसी कारणवश एक या दो उपवास न किये जा सके हों तो मूल से अर्थात् प्रारम्भ से लेकर पुनः वही उपवास विधि करना चाहिए ॥३६०॥

एस कमो णायव्वो सव्वविहीणं भणिज्जमाणाणं।
एवं णाऊण फुडं ण पमाओ होइ कायव्वो ॥३६१॥

अर्थ – यह क्रम आगे कहे जाने वाले सभी व्रत-विधानों का जानना चाहिए, ऐसा भले प्रकार जानकर कभी भी ग्रहण किये गये व्रत में प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥३६१॥

पंचमिउववासविहिं किच्चा देविंद-चक्कवट्टित्ते।
भोत्तूण दिव्वभाए पच्छा पाउणदि णिव्वाणं ॥३६२॥

अर्थ – श्रावक इस पंचमीव्रत के उपवास-विधान को करके देवेन्द्र और चक्रवर्तियों के दिव्य भोग भोगकर पीछे निर्वाण पद को प्राप्त करता है ॥३६२॥

रोहिणीव्रत-वर्णन

विहिणा गहिऊण विहिं रोहिणिरिक्खम्मि पंच वासाणि।
पंच य मासा जाव उ[2] उववासं तम्मि रिक्खम्मि ॥३६३॥

काऊणुज्जवणं पुण पुव्वविहाणेण होइ कायव्वं।
णवरि विसेसो पडिमा कायव्वा वासुपुज्जस्स ॥३६४॥

---

१. ध. उववासो। २. झ. जाओ।

अर्थ – रोहिणी नक्षत्र में विधिपूर्वक व्रत-विधि को ग्रहण कर पाँच वर्ष और पाँच मास तक उसी नक्षत्र में उपवास को ग्रहण कर, पुनः अर्थात् व्रत पूर्ण होने के पश्चात् पूर्वोक्त विधान से उसका उद्यापन करना चाहिए। यहाँ केवल विशेषता यह है कि प्रतिमा वासुपूज्य भगवान् की बनवाना चाहिए ॥३६३-३६४॥

तस्स फलेणित्थी वा पुरिसो सोयं[1] ण पिच्छइ कया वि।
भोत्तूण विउलभोए पच्छा पाउणइ णिव्वाणं ॥३६५॥

अर्थ – इस रोहिणी व्रत के फल से स्त्री हो, या पुरुष, वह कभी भी शोक को नहीं देखता है अर्थात् उसका जीवन रोग-शोक-रहित सुख से व्यतीत होता है और वह विपुल भोगों को भोगकर पीछे निर्वाण-सुख को प्राप्त होता है ॥३६५॥

अश्विनीव्रत-वर्णन

गहिऊणस्सिणिरिक्खम्मि विहिं रिक्खेसु सत्तवीसेसु।
रिक्खं पडि एक्केक्को उववासो होइ कायव्वो ॥३६६॥
एवं काऊण विहिं सत्तीए जो करेइ उज्जवणं।
भूत्तूणब्भुदयसुहं सो पावइ अक्खयं सुक्खं ॥३६७॥

अर्थ – अश्विनी नक्षत्र में व्रत-विधि को ग्रहणकर पुनः सत्ताईस नक्षत्रों में प्रत्येक अश्विनी नक्षत्र पर एक-एक उपवास करना चाहिए। इस प्रकार अश्विनी व्रत की विधि को करके जो अपनी शक्ति के अनुसार उद्यापन करता है, वह अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग के सुख को भोगकर अक्षय मुक्ति-सुख को प्राप्त करता है ॥३६६-३६७॥

सौख्यसम्पत्तिव्रत-वर्णन

एया पडिवा वीया उ दुण्णि तीया उ तिण्णि चउत्थीओ[2]।
चत्तारि पंच य छट्ठीउ छट्ठेव ॥३६८॥

---

१. शोकं। २. ब. चोत्थीओ।

सत्तेव सत्तमीओ अट्ठट्ठमिओ य णव य णवमीओ।
दस दसमीओ य तहा एयारस एयारसीओ य ॥३६९॥

बारस य बारसीओ तेरह तह तेरसीओ णायव्वा।
चोद्दस य चोद्दसीओ पण्णारस पुण्णिमाओ य ॥३७०॥

उववासा कायव्वा जहुत्तसंखाकमेण एयासु।
एसा णामेण विहि विण्णेया सुक्खसंपत्ती ॥३७१॥

एयस्से संजायइ फलेण अब्भुदयसुक्खसंपत्ती।
कमसो मुत्तिसुहस्स वि तम्हा कुज्जा पयत्तेण ॥३७२॥

अर्थ – प्रतिपदा आदिक तिथियों में यथोक्त संख्या के क्रम से प्रतिपदा का एक, द्वितीया के दो, तृतीया के तीन, चतुर्थी के चार, पंचमी के पाँच, षष्ठी के छह, सप्तमी के सात, अष्टमी के आठ, नवमी के नौ, दशमी के दस, एकादशी के ग्यारह, द्वादशी के बारह, त्रयोदशी के तेरह, चतुर्दशी के चौदह और पूर्णमासी के पन्द्रह उपवास करना चाहिए। इस उपवास-विधि का नाम सौख्यसंपत्तिव्रत जानना चाहिए। इस व्रत-विधि के फल से अभ्युदय-सुख की संप्राप्ति होती है और क्रम से मुक्तिसुख की भी प्राप्ति होती है। इसलिए प्रयत्न के साथ इस व्रत को करना चाहिए ॥३६८-३७२॥

नन्दीश्वरपंक्तिव्रत-वर्णन

काऊण अट्ठ एयंतराणि रइयरणगेसु चत्तारि।
दहिमुहसेलेसु पुणो अंजणजिणचेइए छट्ठं ॥३७३॥

णंदीसरम्मि दीवे एवं चउसु वि दिसासु कायव्वा।
उववासा एस विहि णंदीसरपंति णामेण ॥३७४॥

जं किं पि देवलोए महड्ढिदेवाण मणुसाण सुहं।
भोत्तूण सिद्धिसोक्खं पाउणइ फलेण एयस्स ॥३७५॥

अर्थ – नन्दीश्वर द्वीप में एक दिशा सम्बन्धी आठ रतिकर पर्वतों में विद्यमान जिनबिम्ब सम्बन्धी आठ एकान्तर उपवास करके, पुनः चार दधिमुख नामक शैलों में विद्यमान जिनबिम्ब सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः एक अंजनगिरिस्थ जिनबिम्ब सम्बन्धी षष्ठमभक्त अर्थात् एक बेला करें। इस प्रकार चारों ही दिशाओं में उपवास करना चाहिए। इस उपवास-विधि का नाम नन्दीश्वर पंक्ति व्रत है। इस व्रत के फल से देवलोक में महर्द्धिक देवों के जो कुछ भी सुख हैं और मनुष्यों के जितने सुख हैं, उन्हें भोगकर यह जीव सिद्धि-सुख को प्राप्त होता है ॥३७३-३७५॥

विमानपंक्तिव्रत-वर्णन

एयंतरोववासा चत्तारि चउद्दिसासु काऊण।
छट्ठं मज्झे एवं तिसट्ठिखुत्तो विहिं कुज्जा ॥३७६॥

पट्ठवणे णिट्ठवणे छट्ठं मज्झम्मि अट्ठवयं च तहा।
एस विही णायव्वा विमाणपंति त्ति णामेण ॥३७७॥

अर्थ – चारों दिशाओं में स्थित चार श्रेणीबद्ध विमान सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः मध्य में स्थित इन्द्रक विमान सम्बन्धी एक षष्ठभक्त अर्थात् बेला करे। इस प्रकार यह विधि तिरेसठ बार करना चाहिए। प्रस्थापन अर्थात् व्रत-प्रारम्भ करने के दिन और निष्ठापन अर्थात् व्रत समाप्त होने के दिन वेला करे तथा मध्य में अष्टम भक्त अर्थात् तेला करे।

इस उपवास-विधि का नाम विमान-पंक्ति व्रत जानना चाहिए ॥३७६-३७७॥

फलमेयस्से भोत्तूण देव-मणुएसु इंदियजसुक्खं।
पच्छा पावइ मोक्खं थुणिज्जमाणो सुरिंदेहिं ॥३७८॥

अर्थ – इस व्रत-विधान के फल से यह जीव देव और मनुष्यों

में इन्द्रिय-जनित सुख भोगकर पीछे देवेन्द्रों से स्तुति किया जाता हुआ मोक्ष को पाता है ॥३७८॥

उद्देसमेत्तमेयं कीरइ अण्णं पि जं ससत्तीए।
सुत्तुत्ततवविहाणं कायकिलेसु त्ति तं विंति॥३७९॥

अर्थ – व्रतों का यह उद्देश्यमात्र वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सूत्रोक्त तप-विधान को जो अपनी शक्ति के अनुसार करता है, उसे आचार्यों ने कायक्लेश इस नाम से कहा है ॥३७९॥

जिण-सिद्ध-सूरि-पाठय-साहूणं जं सुयस्स विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं॥३८०॥(१)

अर्थ – अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्ध भगवान, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की तथा शास्त्र की जो वैभव से नाना प्रकार की पूजा की जाती है, उसे पूजन-विधान जानना चाहिए ॥३८०॥

णाम-ट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवहरिंदेहिं॥३८१॥(२)

अर्थ – नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्षेप से छह प्रकार की पूजा जिनेन्द्रदेव ने कही है ॥३८१॥

नामपूजा

उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया[1] णामपूया सा॥३८२॥(३)

---

(१) गुरूणामपि पंचानां या यथाभक्ति-शक्तितः। क्रियतेऽनेकधा पूजा सोऽर्चनाविधिरुच्यते॥२११॥

(२) स नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-कालाच्च भावतः।
षोढार्चाविधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतैः॥२१२॥ – गुण० श्राव०

१. ब. वाणिज्जया।

(३) नामोच्चारोऽर्हतादीनां प्रदेशे परितः शुचौ।
यः पुष्पाक्षतनिक्षेपा क्रियते नामपूजनम्॥२१३॥

अर्थ – अरहन्त आदि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं, वह नाम-पूजा जानना चाहिए ॥३८२॥

स्थापना पूजा

सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता।
सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥३८३॥
अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो[1] त्ति णिययबुद्धीए।
संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥३८४॥ (१)

अर्थ – जिन भगवान् ने सद्भावस्थापना और असद्भाव-स्थापना, यह दो प्रकार की स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तु में जो अरहन्त आदि के गुणों का आरोपण करना, सो यह पहली सद्भावस्थापना पूजा है। अक्षत, वराटक (कौड़ी या कमलगट्टा) आदि में अपनी बुद्धि से यह अमुक देवता है ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भावस्थापना पूजा जानना चाहिए ॥३८३-३८४॥

हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि[2] कायव्वा।
लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो ॥३८५॥ (२)

अर्थ – हुंडावसर्पिणी काल में दूसरी असद्भावस्थापना पूजा नहीं करना चाहिए; क्योंकि कुलिंग-मतियों से मोहित इस लोक में संदेह हो सकता है ॥३८५॥

---

१. इ. ब. एसु।

(१) सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता। सद्भावस्थापना भावे साकारे गुणरोपणम् ॥२१४॥

उपलादौ निराकारे शुचौ संकल्पपूर्वकम्। स्थापनं यदसद्भावः स्थापनेति तदुच्यते ॥२१५॥

२. य. ध. होई।

(२) हुंडावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधैः। न कर्त्तव्या यतो लोके समूढसंशयो भवेत् ॥२१६॥

कारावगिंदपडिमा पइट्ठलक्खणविहिं फलं चेव।
एदे पंचहियारा णायव्वा पढमठवणाए॥३८६॥ (१)

अर्थ – पहली सद्भावस्थापना-पूजा में कारापक अर्थात् प्रतिमा को बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करानेवाला, इन्द्र अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिमा, प्रतिष्ठा की लक्षणविधि, और प्रतिष्ठा का फल, ये पाँच अधिकार जानना चाहिए॥३८६॥

कारापक-लक्षण

भागी वच्छल्ल-पहावणा-खमा-सच्च-मद्दवोवेदो।
जिणसासण-गुरुभत्तो सुत्ते कारावगो भणिदो॥३८७॥

अर्थ – भाग्यवान्, वात्सल्य, प्रभावना, क्षमा, सत्य और मार्दव गुण से संयुक्त, जिन अर्थात् देव, शासन अर्थात् शास्त्र और गुरु की भक्ति करनेवाला प्रतिष्ठाशास्त्र में कारापक कहा गया है॥३८७॥

इंद्र-लक्षण

देस-कुल-जाइसुद्धो णिरुवम-अंगो विसुद्धसम्मत्तो।
पढमाणिओयकुसलो पइट्ठलक्खणविहिविदण्णू॥३८८॥
सावयगुणोववेदो उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धी।
एवं गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ॥३८९॥

अर्थ – जो देश, कुल और जाति से शुद्ध हो, निरुपम अंग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग में कुशल हो, प्रतिष्ठा की लक्षण-विधि का जानकार हो, श्रावक के गुणों से युक्त हो, उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्र में स्थिरबुद्धि हो, इस प्रकार के गुणवाला जिनशासन में प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है॥३८८-३८९॥

(१) निर्मापकेन्द्रप्रतिमा प्रतिष्ठालक्ष्म तत्फलम्। अधिकाराश्च पंचैते सद्भावस्थापने स्मृताः॥२१७॥ – गुणभूषण श्रावकाचार

प्रतिमा-विधान

***मणि-कणय-रयण-रुप्पय-पित्तल-मुत्ताहलोवलाईहिं।**
पडिमालक्खणविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा ॥३९०॥

अर्थ – मणि, स्वर्ण, रत्न, चाँदी, पीतल, मुक्ताफल (मोती) और पाषाण आदि से प्रतिमा की लक्षणविधिपूर्वक अरहंत, सिद्ध आदि की प्रतिमा बनवाना चाहिए॥३९०॥

बारह-अंगंगी जा[1] दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चोद्दहपुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी ॥३९१॥

अर्थ – जो श्रुतज्ञान के बारह अंग-उपांगवाली है, सम्यग्दर्शनरूप तिलक से विभूषित है, चारित्ररूप वस्त्र की धारक है, और चौदह पूर्वरूप आभरणों से मंडित है, ऐसी श्रुतदेवी भी स्थापित करना चाहिए॥३९१॥

अहवा जिणागमं पुत्थएसु सम्मं लिहाविऊण तओ।
सुहतिहि-लग्ग-मुहुत्ते आरंभो होइ कायव्वो ॥३९२॥

अर्थ – अथवा जिनागम को पुस्तकों में सम्यक् प्रकार लिखाकर तत्पश्चात् शुभ तिथि, शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त्त में प्रतिष्ठा का आरम्भ करना चाहिए॥३९२॥

प्रतिष्ठा-विधान

अट्ठदसहत्थमेत्तं भूमिं संसोहिऊण जइणाए।
तस्सुवरि मंडओ पुण कायव्वो तप्पमाणेण ॥३९३॥

चउतोरण-चउदारोवसोहिओ विविहवत्थकयभूसो।
धुव्वंतधय-वडाओ णाणापुप्फोवहारड्ढो ॥३९४॥

** स्वर्णरत्नमणिरौप्यनिर्मितं स्फाटिकामलशिलाभवं तथा।*
उत्थिताम्बुजमहासनांगितं जैनबिम्बमिह शस्यते बुधैः ॥६९॥ – वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ

१. ध. अंगंगिज्जा।

लंबंतकुसुमदामो वंदणमालाहिभूसियदुवारो।
दारुवरि उहयकोणेसु पुण्णकलसेहि रमणीओ ॥३९५॥

तस्स बहुमज्झदेसे पइट्ठसत्थम्मि वुत्तमाणेण।
समचउरंसं पीठं सव्वत्थ समं च काऊण ॥३९६॥

चउसु वि दिसासु तोरण-वंदणमालोववेददारणि।
[1]णंदावत्ताणि तहा दिढाणि रइऊण कोणेसु ॥३९७॥

पडिचीणणेत्तपट्टाइएहिं वत्थेहिं बहुविहेहिं तहा।
उल्लोविऊण उवरिं चंदोवयमणिविहाणेहिं ॥३९८॥

संभूसिऊण चंदद्धचंदवुव्वुयवरायलाईहिं।
मुत्तादामेहिं ता किंकिणिजालेहिं विविहेहिं ॥३९९॥

छत्तेहिं चामरेहिं य दप्पण-भिंगार-तालवट्टेहिं।
कलसेहि पुप्फवडिलिय-सुपइट्ठय-दीवणिवहेहिं ॥४००॥

एयं रयणं काऊण तओ अब्भंतरम्मि भागम्मि।
रइऊण विविहभंडेहिं वेइयं चउसु कोणेसु ॥४०१॥

अर्थ – आठ-दस हाथ प्रमाण लम्बी-चौड़ी भूमि को यत्न के साथ भले प्रकार शुद्ध करके उसके ऊपर तत्प्रमाण मंडप बनाना चाहिए। वह मंडप चार तोरणों से और चार द्वारों से सुशोभित हो, नाना प्रकार के वस्त्रों से विभूषित हो, जिस पर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हों, जो नाना पुष्प-हारों से युक्त हो, जिसमें पुष्प-मालाएँ लटक रही हों, जिसके दरवाजे वंदन-मालाओं से विभूषित हों, जो द्वार के ऊपर दोनों कोनों में जल-परिपूर्ण कलशों से रमणीक हो।

उस मंडप के बहुमध्यदेश में अर्थात् ठीक बीचोंबीच प्रतिष्ठाशास्त्र में कहे हुए प्रमाण से समचतुरस्र अर्थात् चौकोण पीठ (चबूतरा) बनाकर और उसे सर्वत्र समान करके, चारों ही दिशाओं में तोरण और वदंनमालाओं

---

१. झ: वज्जावत्ताणि, म. प. छत्तावत्ताणि। ध. छज्जावत्ताणि।

से संयुक्त द्वारों को बनाकर तथा कोनों में दृढ़, मजबूत और स्थिर नंद्यावर्त बनाकर, चीनपट्ट (चाइना सिल्क), कोशा नादि नाना प्रकार के नेत्राकर्षक वस्त्रों से निर्मित चन्द्रकान्तमणि तुल्य चतुष्कोण चँदोवे को तानकर, चन्द्र, अर्धचन्द्र, बुद्बुद, वराटक (कौड़ी) आदि से तथा मोतियों की मालाओं से, नाना प्रकार की छोटी घण्टियों के समूह से, छत्रों से, चमरों से, दर्पणों से, भृंगारों से, तालवृन्तों से, कलशों से, पुष्प-पटलों से, सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप-समूहों से आभूषित करे।

इस प्रकार की रचना करके पुनः उस चबूतरे के अभ्यन्तर भाग में चारों कोणों में विविध भाँडों (बर्तनों) से वेदिका बनाना चाहिए॥३९२-४०१॥

इंदो तह दायारो पासुयसलिलेण धारणादिण्हे[1]।
पक्खालिऊण देहं पच्छा भोत्तूण महुरण्णं॥४०२॥

उववासं पुण पोसहविहिणा गहिऊण गुरुसयासम्मि।
णव-धवलवत्थभूसो सिरिखंडविलित्तसव्वंगो॥४०३॥

आहरण-वासियाईहिं भूसियंगो सगं सबुद्धीए।
सक्कोहमिइ वियप्पिय विसेज्ज जागाव णि इंदो॥४०४॥

अर्थ – धारणा के दिन अर्थात् प्रतिष्ठा करते समय उपवास ग्रहण करने के पहले इन्द्र (प्रतिष्ठाचार्य) और दातार (प्रतिष्ठा-कारापक) प्रासुक जल से देह को प्रक्षालनकर अर्थात् स्नानकर तत्पश्चात् मधुर अन्न को खाकर, पुनः गुरु के पास में प्रोषधविधि से उपवास को ग्रहणकर, नवीन, उज्ज्वल श्वेत वस्त्रों से विभूषित हो, श्रीखण्ड चन्दन से सर्व अंग को लिसकर, आभरण और वासिका (सुगंधित द्रव्य या चूर्ण आदि) से विभूषित-अंग होकर, अपने आपको अपनी बुद्धि से मैं इन्द्र हूँ ऐसा

---

१. इ. दियहं, झ. ध. दियहे, ब. प. दियहो।

संकल्प करके वह इन्द्र (और प्रतिष्ठाकारक) यज्ञावनि अर्थात् प्रतिष्ठामंडप में प्रवेश करें ॥४०२-४०४॥

पुव्वुत्तवेइमज्जे लिहेज्ज चुण्णेण पंचवण्णेण[1]।
पिहुकण्णियं पइट्ठाकलाववविहिणा सुकंदुत्थं[2] ॥४०५॥
रंगावलिं च मज्झे ठविज्ज सियवत्थपरिवुडं पीठं।
उचिदेसु तह पइट्ठोवयरणदव्वं च ठाणेसु॥४०६॥

अर्थ – प्रतिष्ठा-मंडप में जाकर तत्रस्थ पूर्वोक्त वेदिका के मध्य में पंच वर्णवाले चूर्ण के द्वारा प्रतिष्ठाकलाप की विधि से पृथु अर्थात् विशाल कर्णिका वाले नील कमल को लिखे और उसमें रंगावलि को भरकर उसके मध्य में श्वेत वस्त्र से परिवृत पीठ अर्थात् सिंहासन या ठौना को स्थापित कर तथा प्रतिष्ठा में आवश्यक उपकरण द्रव्य उचित स्थानों पर रखे ॥४०५-४०६॥

एवं काऊण तओ ईसाणदिसाए वेइयं दिव्वं।
रहऊण ण्हवणपीठं तिस्से मज्झम्मि ठावेज्जो ॥४०७॥
अरुहाईणं पडिमं विहिणा संठाविऊण तस्सुवरिं।
धूलीकलसहिसेयं करावए सुत्तहारेण ॥४०८॥
वत्थादियसम्माणं कायव्वं होदि तस्स सत्तीए।
***पोक्खणविहिं च मंगलरवेण कुज्जा तओ कमसो ॥४०९॥**

अर्थ – इस प्रकार उपर्युक्त कार्य करके पुनः ईशान दिशा में एक दिव्य वेदिका रचकर, उसके मध्य में एक स्नान-पीठ अर्थात् अभिषेकार्थ सिंहासन या चौकी वगैरह को स्थापित करे। और उसके ऊपर विधिपूर्वक अरहंत आदि की प्रतिमा को स्थापित कर सूत्रधार अर्थात् प्रतिमा बनाने

१. पंचवर्णचूर्ण-श्वेतमुक्ताचूर्ण, पीत-हारिद्रपीतमणिचूर्ण, हरित-वैडूर्यरत्नचूर्ण, रत्न-माणिक्य-ताम्रमणिचूर्ण, कृष्ण-गरुत्मणिचूर्ण। (वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ)।

२. इ. झ. ध फ सुकंदुट्ठं, व सुकंदुट्टं। नीलोत्पलमित्यर्थः।

वाले कारीगर के द्वारा धूलि-कलशाभिषेक करावे। तत्पश्चात् उस सूत्रधार का अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्रादिक से सन्मान करना चाहिये। तत्पश्चात् क्रमशः प्रोक्षणविधि को मांगलिक वचन गीतादि से करे।

(धूलि-कलशाभिषेक और प्रोक्षणविधि के जानने के लिए परिशिष्ट देखिए) ॥४०७-४०९॥

तप्पाओग्गुवयरणं अप्पसमीवं णिविसिऊण तओ।
आगरसुद्धिं कुज्जा पइट्ठसत्थुत्तमग्गेण ॥४१०॥

अर्थ – तत्पश्चात् आकर-शुद्धि के योग्य उपकरणों को अपने समीप रखकर प्रतिष्ठाशास्त्र में कहे हुए मार्ग के अनुसार शुद्धि को करे।

(आकरशुद्धि के विशेष स्वरूप को जानने के लिए परिशिष्ट देखिए) ॥४१०॥

एवं काऊण तओ खुहियसमुद्दोव्व गज्जमाणेहिं।
वरभेरि-करड-काहल-जय-घंटा-संख-णिवहेहिं ॥४११॥

गुलुगुलुगुलंत तविलेहिं कंसतालेहिं झमझमंतेहिं।
घुम्मंत पडइ-मद्दल[1]-हुडुक्कमुक्खेहिं विविहेहिं ॥४१२॥

गिज्जंत संधिबंधाइएहिं गेएहिं[2] बहुपयारेहिं।
वीणावंसेहिं तहा आणयसद्देहिं रम्मेहिं ॥४१३॥

बहुहाव-भाव-विब्भम-विलास-कर-चरण-तणुवियारेहिं।
णच्चंत णवरसुब्भिण्ण-णाडएहिं विविहेहिं ॥४१४॥

थोत्तेहि मंगलेहि य उच्चाहसएहि महुरवयणस्स।
धम्माणुरायरत्तस्स चाउव्वण्णस्स संघस्स ॥४१५॥

भत्तीए पिच्छमाणस्स तओ उच्चाइऊण जिणपडिमं।
उस्सिय[3] सियायवत्तं सियचामरधव्वमाण[4] सव्वंगं ॥४१६॥

---

१. ब. मंद्दल। २. इ. गएहिं, ब. गोएहिं। ३. ब. उब्भिय। ४. इ. दोलिमाण०। ५. म. जुवारेहि। ६. ध. प. परए।

आरोविऊण सीसे आऊण पयाहिणं जिणगेहस्स।
विहिणा ठविज्ज पुव्वुत्तवेइयामज्झपीठम्मि॥४१७॥

चिट्ठेज्ज-जिणगुणारोवणं कुणंतो जिणिंदपडिबिंवे।
इट्ठविलग्गस्सुदए चंदणतिलयं तओ दिज्जा॥४१८॥

सव्वावयवेसु पुणो मंतण्णासं कुणिज्ज पडिमाए।
विविहच्चणं च कुज्जा कुसुमेहिं बहुप्पयारेहिं॥४१९॥

दाऊण मुहपडं धवलवत्थजुयलेण मयणफलसहियं।
अक्खय-चरु-दीवेहिं य धूवेहिं फलेहिं विविहेहिं॥४२०॥

बलिवत्तिएहिं जावारएहिं[५] य सिद्धत्थपण्णरुक्खेहिं।
पुव्वुत्तुवयरणेहि य[६] रएज्ज पुज्जं सविहवेण॥४२१॥

अर्थ – इस प्रकार आकरशुद्धि करके पुनः क्षोभित हुए समुद्र के समान गर्जना करते हुए उत्तमोत्तम भेरी, करड, काहल, जय-जयकार शब्द, घण्टा और शंखों के समूहों से गुल-गुल शब्द करते हुए तबलों से, झम-झम शब्द करते हुए कंसतालों से, घुम-घुम शब्द करते हुए नाना प्रकार के ढोल, मृदंग, हुड़क्क आदि मुख्य-मुख्य बाजों से, सुर-आलाप करते हुए संधिबंधादिकों से अर्थात् सारंगी आदि से और नाना प्रकार के गीतों से, सुरम्य वीणा, बाँसुरी से तथा सुन्दर आणक अर्थात् वाद्यविशेष के शब्दों से नाना प्रकार के हाव, भाव, विभ्रम, विलास तथा हाथ, पैर और शरीर के विकारों से अर्थात् विविध नृत्यों से नाचते हुए नौ रसों को प्रकट करनेवाले नाना नाटकों से, स्तोत्रों से, मांगलिक शब्दों से तथा उत्साहशतों से अर्थात् परम उत्साह के साथ मधुरभाषी, धर्मानुराग-रक्त और भक्ति से उत्सव को देखने वाले चातुर्वर्ण संघ के सामने, जिसके ऊपर श्वेत आतपत्र (छत्र) तना है और श्वेत चामरों के ढोरने से व्याप्त है सर्व अंग जिसका, ऐसी जिनप्रतिमा को वह प्रतिष्ठाचार्य अपने मस्तक पर रखकर और जिनेन्द्रगृह की प्रदक्षिणा करके, पूर्वोक्त वेदिका के

मध्य-स्थित सिंहासन पर विधिपूर्वक प्रतिमा को स्थापित कर, जिनेन्द्र-प्रतिबिम्ब अर्थात् जिन-प्रतिमा में जिन-भगवान के गुणों का आरोपण करता हुआ, पुनः इष्ट लग्न के उदय में अर्थात् शुभ मुहूर्त में प्रतिमा के चन्दन का तिलक लगावें। पुनः प्रतिमा के सर्व अंगोपांगों में मंत्रन्यास करे और विविध प्रकार के पुष्पों से नाना पूजनों को करे।

तत्पश्चात् मदनफल (मैनफल या मैनार) सहित धवल वस्त्र-युगल से प्रतिमा के मुखपट देकर अर्थात् वस्त्र से मुख को अवृत करं, अक्षत, चरु, दीप से, विविध धूप और फलों से, बलि-वर्त्तिकों से अर्थात् पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियों से, जावारकों से, सिद्धार्थ (सरसों) और पर्ण वृक्षों से तथा पूर्वोक्त उपकरणों से पूर्ण वैभव के साथ या अपनी शक्ति के अनुसार पूजा रचे ॥४११-४२१॥

रत्तिं जग्गिज्ज[1] पुणो तिसट्ठि[2] सलायपुरिससुकहाहिं।
संघेण समं पुज्जं पुणो वि कुज्जा पहायम्मि ॥४२२॥

अर्थ – पुनः संघ के साथ तिरेसठ शलाका पुरुषों की सुकथालापों से रात्रि को जगे अर्थात् रात्रि जागरण करे और फिर प्रातःकाल संघ के साथ पूजन करे ॥४२२॥

एवं चत्तारि दिणाणि जाव कुज्जा तिसंझ जिणपूजा।
***नेत्तुम्मीलणपुज्जं चउत्थण्हवणं तओ कुज्जा ॥४२३॥**

अर्थ – इस प्रकार चार दिन तक तीनों संध्याओं में जिन-पूजन करे। तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन पूजन और चतुर्थ अभिषेक करें ॥४२३॥

एवं ण्हवणं काऊण सत्थमग्गेण संघमज्झम्मि।
तो वक्खमाणविहिणा जिणपयपूजा य कायव्वा ॥४२४॥

---

१. ब. जग्गेज्ज। प. जगोज। २. ब. तेसट्ठि।

** विदध्यात्तेन गन्धेन चामीकरशलाकया। चक्षुरुन्मीलनं शक्रः पूरकेन शुभोदये ॥४१८॥*
– वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ

अर्थ – इस प्रकार शास्त्र के अनुसार संघ के मध्य में जिनाभिषेक करके आगे कही जानेवाली विधि से जिनेन्द्र भगवान् के चरण-कमलों की पूजा करना चाहिये ॥४२४॥

गहिऊण सिसिरकर-किरण-णियर-धवलयर-रयणभिंगारं।
मोत्तिय-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि-खचिय[3]-वरकंठं ॥४२५॥

सयवत्त-कुसुम[4] कुवलय-रजपिंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं।
जिणचरण-कमलपूरओ खिविज्जि ओ तिण्णि धाराओ ॥४२६॥

अर्थ – मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियों से जटित श्रेष्ठ कण्ठवाले, शतपत्र (रक्त कमल) कुसुम, और कुवलय (नील कमल) के पराग से पिंजरित एवं सुरभित विमल जल से भरे हुए शिशिरकर (चन्द्रमा) की किरणों के समूह से भी अति धवल रजत (चाँदी) के भृङ्गार (झारी) को लेकर जिनभगवान् के चरण-कमलों के सामने तीन धाराएँ छोड़ना चाहिए ॥४२५-४२६॥

कप्पूर-कुंकुमायरु-तुरुक्कमीसेण चंदणरसेण।
वरवहलपरिमलामोयवासियासासमूहेण ॥४२७॥

वासाणुमग्गसंपत्तमुइयमत्तालिरावमुहलेण।
सुरमउडघिट्ठचलणं[5] भत्तीए समलहिज्ज जिणं ॥४२८॥

अर्थ – कपूर, कुंकुम, अगर, तगर से मिश्रित, सर्वश्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोद से आशासमूह अर्थात् दशों दिशाओं को आवासित करनेवाले और सुगन्धि के मार्ग के अनुकरण से आये हुए प्रमुदित एवं मत्त भ्रमरों के शब्दों से मुखरित, चंदनरस के द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जाने के कारण) सुरों के मुकुटों से जिनके चरण घिस गये हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र को भक्ति से विलेपन करे ॥४२७-४२८॥

---

३. ब. खविय। ४. ध. प. कमल। ५. म. चरणं।

ससिकंतखंडविमलेहिं विमलजलसित्त अइ[1] सुयंधेहिं।
जिणपडिमपइट्ठयज्जिविसुद्धपुण्णंकुरेहिं व॥४२९॥
वर कमल-सालितंडुलचएहिं सुछंडिय[2] दीहसयलेहिं।
मणुय-सुरासुरमहियं पुज्जिज्ज जिणिंदपयजुयलं॥४३०॥

अर्थ – चन्द्रकान्तामणि के खंड समान निर्मल, तथा विमल (स्वच्छ) जल से धोये हुए और अति सुगंधित, मानो जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा से उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्य के अंकुर ही हों, ऐसे अखंड और लम्बे उत्तम कलमी और शालिधान्य से उत्पन्न तन्दुलों के समूह से, मनुष्य सुर और असुरों के द्वारा पूजित श्री जिनेन्द्र के चरण-युगल को पूजे॥४२९-४३०॥

मालइ-कयंब-कणयारि-चंपयासोय-बउल-तिलएहिं।
मंदार-णायपंचय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं॥४३१॥
कणवीर-मल्लियाहिं[1] कचणार-मचकुंद-किंकराएहिं।
सुरवणज[2] जूहिया-पारिजातय[3]-जासवण-टगरेहिं॥४३२॥
सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय[4] मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं।
जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसयमहियं॥४३३॥

अर्थ – मालती, कदम्ब, कर्णकार (कर्नेर), चंपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल), उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष या निर्गुण्डी), कर्णवीर (कर्नेर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोकवृक्ष), देवों के नन्दनवन में उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जूही, पारिजातक, जपाकुसुम, और तगर (आदि उत्तम वृक्षों से उत्पन्न) पुष्पों से तथा सुवर्ण, चाँदी से निर्मित फूलों से और नाना प्रकार के मुक्ताफलों की मालाओं के द्वारा सौ जाति के इन्द्रों से पूजित जिनेन्द्र के पद-पंकज-युगल को पूजे॥४३१-४३३॥

---

१. ध. प. मल्लिया। २. झ. ब. ध. प. सुरपुण्ण। ३. ध. प. पारियाय। ४. ब. सेहिय (निवृत्त इत्यर्थः)।

दहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं।
तेवट्ठि-विंजणेहिं य बहुविहपक्कण्ण भेएहिं ॥४३४॥

रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिहिएहिं विविहभक्खेहिं।
पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ ॥४३५॥

अर्थ – चाँदी, सोना, और काँसे आदि की थालियों में रखे हुए दही, दूध और घी से मिले हुए नाना प्रकार के चावलों के भात से, तिरेसठ प्रकार के व्यंजनों से तथा नाना प्रकार की जातिवाले पकवानों से और विविध भक्ष्य पदार्थों से भक्ति के साथ जिनेन्द्र-चरणों के सामने पूजा को विस्तारे अर्थात् नैवेद्य से पूजन करे ॥४३४-४३५॥

दीवेहिं णियपहोहामियक्क[५]तेएहि धूमरहिएहिं।
मंदं चलमंदाणिलवसेण णच्चंत अच्चीहिं ॥४३६॥
घणपडलकम्मणिवहव्व दूर[६]मवसारियंधयारेहिं।
जिणचरणकमलपुरओ कुणिज्ज रयणं सुभत्तीए ॥४३७॥

अर्थ – अपने प्रभासमूह से अमित (अगणित) सूर्यों के समान तेजवाले अथवा अपने प्रभापुंज से सूर्य के तेज को भी तिरस्कृत या निराकृत करनेवाले, धूम-रहित तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायु के वश से नाचती हुई शिखाओं वाले और मेघ-पटलरूप कर्मसमूह के समान दूर भगाया है अंधकार को जिन्होंने, ऐसे दीपकों से परमभक्ति के साथ जिन-चरण-कमलों के आगे पूजन की रचना करे अर्थात् दीप से पूजन करे ॥४३६-४३७॥

कालायरु-णह-चंदह-कप्पूर[७]-सिल्हारसाइदव्वेहिं[८] ॥
णिप्पण्णधूमवत्तीहिं[९] परिमलाय[१०] त्तियालीहिं ॥४३८॥

---

५. निराकृत इत्यर्थः। ६. प. ब. ध. मुवसा०। ७. झ. ब. तुरुक्क। ८. झ. ब. दिव्वेहिं। ९. प. वत्ताहिं। १०. इ. पंति०, झ. यट्टि०, ब. यड्ढि०।

उग्गसिहादेसियसग्ग-मोक्खमग्गेहि बहलधूमेहिं।
धूविज्ज जिणिंदपयारविंदजुयलं सुरिंदणुयं ॥४३९॥

अर्थ – कालागुरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई, जिसकी सुगन्ध से लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे हैं तथा जिसकी ऊँची शिखा मानो स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग ही दिखा रही है, और जिसमें से बहुत-सा धुआँ निकल रहा है, ऐसी धूप की बत्तियों से देवेन्द्रों से पूजित श्रीजिनेन्द्र के पादारविन्द-युगल को धूपित करे, अर्थात् उक्त प्रकार की धूप से पूजन करे ॥४३८-४३९॥

जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ[1]-पणस-णालिएरेहिं।
हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं[2] ॥४४०॥
पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइसुरहिमिट्ठेहिं।
जिणपयपुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्केहिं ॥४४१॥

अर्थ – जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कवित्थ (कवीट या कैंथा), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बु, नारंगी, अचार (चिरौंजी), पूगीफल (सुपारी), तेन्दु, आँवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकार के सुगंधित, मिष्ट और सुपक्व फलों से जिन-चरणों के आगे रचना करे अर्थात् पूजन करे ॥४४०-४४१॥

अट्ठविहमंगलाणि य बहुविहपूजोवयरणदव्वाणि।
धूवदहणाइ[3] तहा जिणपूयत्थं[4] वितीरिज्जा ॥४४२॥

अर्थ – आठ प्रकार के मंगल-द्रव्य और अनेक प्रकार के पूजा के उपकरण द्रव्य तथा धूप-दहन (धूपायन) आदि जिन-पूजन के लिए वितरण करे ॥४४२॥

एवं चलपडिमाए ठवणा भणिया थिराए एमेव।
णवरिविसेसो आगरसुद्धिं कुज्जा सुठाणम्मि ॥४४३॥

---

१. ब. कपिह। २. झ. वारेहि। ३. झ. ब. भूयाणाईहि। ४. झ. ब. पूयट्ठं।

चित्तपडिलेवपडिमाए दप्पणं दाविऊण पडिबिंबे[१]।
तिलयं दाऊण तओ मुहवत्थं दिज्ज पडिमाए॥४४४॥
आगरसुद्धिं च करेज्ज दप्पणे अह व अण्णंपडिमाए।
एत्तियमेत्तविसेसो सेसविही जाण पुव्वं व॥४४५॥

अर्थ – इस प्रकार चलप्रतिमा की स्थापना कही गई है, स्थिर या अचल प्रतिमा की स्थापना भी इसी प्रकार की जाती है। केवल इतनी विशेषता है कि आकरशुद्धि स्वस्थान में ही करे। (भित्ति या विशाल पाषाण और पर्वत आदि पर) चित्रित अर्थात् उकेरी गई, प्रतिलेपित अर्थात् रंग आदि से बनाई या छापी गई प्रतिमा का दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तक पर तिलक देकर तत्पश्चात् प्रतिमा के मुखवस्त्र देवे। आकरशुद्धि दर्पण में करे अथवा अन्य प्रतिमा में करे। इतना मात्र ही भेद है, अन्य नहीं। शेष विधि पूर्व के समान ही जानना चाहिए॥४४३-४४५॥

एवं चिरंतणाणं पि कट्टिमाकट्टिमाण पडिमाणं।
जं कीरइ बहुमाणं ठवणापुज्जं हि तं जाण॥४४६॥

अर्थ – इसी प्रकार चिरन्तन अर्थात् अत्यन्त पुरातन कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं का भी जो बहुत सम्मान किया जाता है, अर्थात् पुरानी प्रतिमाओं का जीर्णोद्धार, अविनय आदि से रक्षण, मेला, उत्सव आदि किया जाता है, वह सब स्थापना पूजा जानना चाहिए॥४४६॥

जे पुव्वसमुद्दिट्ठा ठवणापूयाए पंच अहियारा।
चत्तारि तेसु भणिया अवसाणे पंचमं भणिओ॥४४७॥

अर्थ – स्थापना-पूजा के जो पाँच अधिकार पहले (गाथा नं. ३८९ में) कहे थे, उनमें से आदि के चार अधिकार तो कह दिये गये हैं,

---

१. ब. बिंबो।

अवशिष्ट एक पूजाफल नाम का जो पंचम अधिकार है, उसे इस पूजन अधिकार के अन्त में कहेंगे ॥४४७॥

द्रव्य-पूजा

दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा।
दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥४४८॥ (१)

अर्थ – जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। वह द्रव्य से अर्थात् जल-गंध आदि पूर्व में कहे गये पदार्थ-समूह से (पूजन-सामग्री से) करना चाहिए ॥४४८॥

तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण।
पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा[1] जहाजोग्गं ॥४४९॥
तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा।
जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥४५०॥ (२)

अर्थ – द्रव्य-पूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित्त पूजा है। उनके अर्थात् जिन, तीर्थंकर आदि के शरीर की और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदि पर लिपिबद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है। और जो दोनों का पूजन किया जाता है, वह मिश्रपूजा जानना चाहिए ॥४४९-४५०॥

अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं।
णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण ॥४५१॥

---

(१) जलगंधादिकैर्द्रव्यैः पूजनं द्रव्यपूजनम्। द्रव्यस्याप्यथवा पूजा सा तु द्रव्यार्चना मता ॥२१९॥ – गुण० श्रा०

१. ब. ध. पुज्जा।

(२) चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा। साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्यं तदुच्यते ॥२२०॥
तद्वपुर्द्रव्यं शास्त्रं वाऽचित्तं मिश्रं तु तद्द्वयम्। तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ॥२२१॥

अर्थ – अथवा आगमद्रव्य, नो आगमद्रव्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के द्रव्यनिक्षेप को जानकर शास्त्र-प्रतिपादित मार्ग से द्रव्यपूजा करना चाहिए ॥४५१॥

क्षेत्र-पूजा

जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥४५२॥(१)

अर्थ – जिन भगवान् की जन्मकल्याणभूमि, निष्क्रमण-कल्याणकभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थान, तीर्थचिह्नस्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण-भूमियों में पूर्वोक्त विधान से क्षेत्रपूजा करना चाहिए अर्थात् यह क्षेत्रपूजा कहलाती है ॥४५२॥

काल-पूजा

गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणं।
जम्हि दिणे संजादं[२] जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ॥४५३॥

इच्छुरस-सप्पि-दहि-खीर-गंध-जलपुण्णविविहकलसेहिं।
णिसिजागरणं च संगीय-णाडयाईहिं कायव्वं ॥४५४॥

णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया कालपूजा सा ॥४५५॥(२)

अर्थ – जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उस

---

(१) जन्म-निःक्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रो जिनेशिनाम्। निषिध्यास्वपि कर्त्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधि ॥२२२॥

२. प. ध. संजायं। (२) कल्याणपंचकोत्पत्तिर्यस्मिन्नह्नि जिनेशिनाम्। तदह्नि स्थापना पूजाऽवश्यं कार्या सुभक्तितः ॥२२३॥ पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तितः। महामहविधानं यत्तत्कालार्चनमुच्यते ॥२२४॥ – गुण० श्रा०

दिन इक्षुरस, घृत, दधि, क्षीर, गंध और जल से परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकार के कलशों से, जिन भगवान् का अभिषेक करे तथा संगीत, नाटक आदि के द्वारा जिन गुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिए। इसी प्रकार नन्दीश्वर पर्वत के आठ दिनों में तथा अन्य भी उचित पर्वों में जो जिन-महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए॥४५३-४५५॥

भाव-पूजा

काऊणाणंतचउट्ठयाइगुणकित्तणं जिणाईणं।
जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु॥४५६॥

अर्थ – परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान् के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों का कीर्त्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है, उसे निश्चय से भावपूजा जानना चाहिए॥४५६॥

पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए[१]।
अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि॥४५७॥

अर्थ – अथवा पंच णमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप करे। अथवा जिनेन्द्र के स्तोत्र अर्थात् गुणगान करने को भावपूजन जानना चाहिए॥४५७॥

पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं अहवा।
जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं॥४५८॥(१)

अर्थ – अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप

---

(१) स्मृत्वानन्तगुणोपेतं जिनं सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत्। वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते॥२२५॥
जाप्यः पंचपदानां वा स्तवनं वा जिनेशिनः। क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चनं मतम्॥२२६॥
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। तद्ध्यानं ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम्॥२२७॥

जो चार प्रकार का ध्यान किया जाता है; उसे भी भावपूजा कहा गया है ॥४५८॥

पिंडस्थ-स्थान

सियकिरणविप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं।
झाइज्जइ जं णिययं[1] पिंडत्थं जाण तं झाणं ॥४५९॥ (१)

अर्थ – श्वेत किरणों से विस्फुरायमान, और अष्ट महाप्रातिहार्यों से परिवृत (संयुक्त) जो निजरूप अर्थात् केवली तुल्य आत्म-स्वरूप का ध्यान किया जाता है, उसे पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४५९॥

अहवा णाहिं च वियप्पिऊण[2] मेरुं अहोविहायम्मि।
झाइज्ज[3] अहोलोयं तिरियम्मं तिरियए वीए ॥४६०॥
उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि संधपरियंते[4]।
गेविज्जमया गीवं अणुद्दिसं हणुपएसम्मि ॥४६१॥
विजयं च वइजयंतं जयंतमवराजियं च सव्वत्थं।
झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला ॥४६२॥ (२)
तस्सुवरि सिद्धणिलयं जह सिहरं जाण उत्तमंगम्मि।
एवं जं णियदेहं झाइज्जइ तं पि पिंडत्थं ॥४६३॥

---

१. म. णियरूवं।

(१) शुद्धस्फटिकसंकाशं प्रातिहार्याष्टकान्वितम्। यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद् ध्यानं पिण्डसंज्ञकम् ॥२२८॥

अधोभागमधोलोकं मध्याशं मध्यमं जगत्। नाभौ प्रकल्पयेन्मेरुं स्वर्गाणां स्कन्धमूर्ध्वतः ॥२२९॥

२. इ. वियप्पेऊण। ३. इ. झाइज्जइं। ४. ध. परेयंतं प. परियंतं।

(२) ग्रैवेयका स्वग्रीवायां हन्वामनुदिशान्यपिं। विजयाद्यान्मुखं पंच सिद्धस्थानं ललाटके ॥२३०॥

मूर्ध्निं लोकाग्रमित्येवं लोकत्रितयसन्निभम्। चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम् ॥२३१॥ – गुण० श्राव०

अर्थ – अथवा, अपने नाभिस्थान में मेरुपर्वत की कल्पना करके उसके अधोविभाग में अधोलोक का ध्यान करे। नाभि से ऊर्ध्वभाग में ऊर्ध्वलोक का चिन्तवन करे। स्कन्धपर्यन्त भाग में कल्पविमानों का, ग्रीवास्थान पर नवग्रैवेयकों का, हनुप्रदेश अर्थात् ठोड़ी के स्थान पर नव अनुदिशों का, मुखप्रदेश पर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि का ध्यान करे। ललाट देश में सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांग में लोक-शिखर के तुल्य सिद्धक्षेत्र को जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देह का ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६०-४६३॥

पदस्थ-ध्यान

जं झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं।
एयक्खरादि विविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं ॥४६४॥ (१)

अर्थ – एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पंच परमेष्ठीवाचक पवित्र मंत्रपदों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६४॥

विशेषार्थ – ओं यह एक अक्षर का मन्त्र है। अर्हं, सिद्ध ये दो अक्षर के मन्त्र हैं। ओं नमः यह तीन अक्षर का मन्त्र है। अरहंत, अर्हं नमः, यह चार अक्षर का मन्त्र है। अ सि आ उ सा यह पाँच अक्षर का मन्त्र है। ओं नमः सिद्धेभ्यः यह छह अक्षर का मन्त्र है। इसी प्रकार ओं ह्रीं नमः, ओं ह्रीं अर्हं नमः, ओं ह्रीं श्रीं अर्हं नमः, अर्हन्त, सिद्ध, अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः इत्यादि पंचपरमेष्ठी या जिन, तीर्थंकर वाचक नामपदों का ध्यान पदस्थ ध्यान के ही अन्तर्गत है।

सुण्णं अयारपुरओ झाइज्जो उड्ढरेह-बिंदुजुयं।
पावंधयारमहणं समंतओ फुरियसियतेयं ॥४६५॥ (२)

---

(१) एकाक्षरादिकं मंत्रमुच्चार्य परमेष्ठिनाम्। क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥२३२॥

अर्थ – पापरूपी अन्धकार का नाश करनेवाला और चारों ओर से सूर्य के समान स्फुरायमान शुक्ल तेजवाला ऐसा तथा ऊर्ध्वरेफ और बिन्दु से युक्त अकारपूर्वक हकार का अर्थात् अर्हं इस मन्त्र का ध्यान करे ॥४६५॥

अ सि आ उ सा सुवण्णा झायव्वा णंतसत्तिसंपण्णा।
चउपत्तकमलमज्झे पढमाइकमेण णिविसिऊणं ॥४६६॥(३)

अर्थ – चार पत्रवाले कमल के भीतर प्रथमादि क्रम से अनन्त शक्ति-सम्पन्न अ, सि, आ, उ, सा इन सुवर्णों को स्थापितकर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् कमल के मध्यभागस्थ कर्णिका में अं (अरहंत) को, पूर्व दिशा के पत्र पर सि (सिद्ध) को, दक्षिण दिशा के पत्र पर आ (आचार्य) को, पश्चिम दिशा के पत्र पर उ (उपाध्याय) को और उत्तर दिशा के पत्र पर सा (साधु) को स्थापित कर उनका ध्यान करे ॥४६६॥

ते चिय वण्णा अट्ठदल पंचकमलाण मज्झदेसेसु।
णिसिऊण सेसपरमेट्ठि अक्खरा चउसु पत्तेसु ॥४६७॥

रयणत्तय-तव-पडिमा-वण्णा-णिविसिऊण सेसपत्तेसु।
सिर-वयण-कंठ-हियए णाहिपएसम्मि झायव्वा ॥४६८॥

अहवा णिलाडदेसे पढमं बीयं विसुद्धदेसम्मि।
दाहिणदिसाइ णिविसिऊण सेसकमलाणि झाएज्जो ॥४६९॥(४)

अर्थ – पुनः अष्टदल वाले कमल के मध्यदेश में दिशा सम्बन्धी चार पत्रों पर उन्हीं वर्णों को स्थापित करके अथवा पंचपरमेष्ठी के वाचक अन्य अक्षरों को स्थापित करके तथा विदिशा सम्बन्धी शेष चार पत्रों पर

---

(२) अकारपूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम्। पापान्धकारनिर्णाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥२३३॥

(३) चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायंत्रमन्तरम्। पूर्वादिदिक्क्रमान्यस्य पदाद्यक्षर-पंचकम् ॥२३४॥ – गुण० श्राव०

रत्नत्रय और तपवाचक पदों के प्रथम वर्णों को अर्थात् दर्शन का द, ज्ञान का ज्ञा, चारित्र का चा और तप का त इन अक्षरों को क्रमशः स्थापित करके इस प्रकार के अष्ट दलवाले कमल का शिर, मुख, कण्ठ, हृदय और नाभिप्रदेश, इन पाँच स्थानों में ध्यान करना चाहिए। अथवा प्रथम कमल को ललाट देश में, द्वितीय कमल को विशुद्धदेश अर्थात् मस्तक पर और शेष कमलों को दक्षिण आदि दिशाओं में स्थापित करके उनका ध्यान करना चाहिए ॥४६७-४६९ ॥

अट्ठदलकमलमज्झे झाएज्ज णहं दुरेहबिंदुजुयं।
सिरिपंचणमोक्कारेहिं वलइयं पत्तरेहासु[१] ॥४७० ॥
णिसिऊण णमो अरहंताणं पत्ताइमट्ठवग्गेहिं।
भणिऊण वेढिऊण य मायाबीएण तं तिउणं ॥४७१ ॥ (५)

अर्थ – अष्ट दलवाले कमल के भीतर कर्णिका में दो रेफ और बिन्दु से युक्त हकार के अर्थात् 'हँ' पद को स्थापन करके कर्णिका के बाहर पत्ररेखाओं पर पंच णमोकार पदों के द्वारा वलय बनाकर उनमें क्रमशः 'णमो अरहंताणं' आदि पाँचों पदों को स्थापित करके और आठों पत्रों को आठ वर्णों के द्वारा चित्रित करके पुनः उसे माया बीज के द्वारा तीन बार वेष्टित करके उसका ध्यान करे ॥४७०-४७१ ॥

आयास-फलिहसंणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणिब्बुडंतं।
णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंबुरुहो ॥४७२ ॥

---

(४) तच्चाष्टपत्रपद्मानां तदेवाक्षरपंचकम्। पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपसामपि ॥२३५ ॥
विदिक्ष्वाद्यक्षरं न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि। नाभौ वक्त्रेऽथवा पूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वापरम् ॥२३६ ॥
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिशिास्वपि। विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवः ॥२३७ ॥
(५) मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य खं द्विरेफं सबिन्दुकम्। स्वरपंचपदावेष्ट्यं विन्यस्यास्य दलेषु तु ॥२३८ ॥
भृत्वा वर्गाष्टकं पत्रं प्रान्ते न्यस्यादिमं पदम्। मायाबीजेन संवेष्ट्यं ध्येयमेतत्सुशर्मदम् ॥२३९ ॥
१. ब. रेहेसु।

वरअट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ।
परमप्पाणंतचउट्ठयण्णिओ पवणमग्गट्ठो ॥४७३॥ (६)

एरिसओ च्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा।
वरखीरवण्णकंदुत्थ[२] कण्णियामज्झदेसट्ठो ॥४७४॥

खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलीकयंगसव्वंगो।
जं झाइज्जइ एवं रूवत्थं जाण तं झाणं ॥४७५॥ (७)

अर्थ – आकाश और स्फटिकमणि के समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीर की प्रभारूपी सलिलनिधि (समुद्र) में निमग्न, मनुष्य और देवों के मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणों के समूह से अनुरंजित हैं चरण-कमल जिनके, ऐसे, तथा श्रेष्ठ आठ महाप्रातिहार्यों से परिवृत, समवसरण के मध्य में स्थित, परम अनन्त चतुष्टय से समन्वित, पवनमार्गस्थ अर्थात् आकाश में स्थित, अरहन्त भगवान् का जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है।

अथवा ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभा से समन्वित, किन्तु समवसरणादि परिवार से रहित और क्षीरसागर के मध्य में स्थित, अथवा उत्तम क्षीर के समान धवल वर्ण के कमल की कर्णिका के मध्यदेश में स्थित, क्षीरसागर के जल की धाराओं के अभिषेक से धवल हो रहा है सर्वांग जिनका ऐसे अरहन्त परमेष्ठी का जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए॥४७२-४७५॥

---

२. ब. कंदुट्ट।

(६) आकाशस्फटिकाभासः प्रातिहार्याष्टकान्वितः। सर्वामरैः सुसंसेव्योऽप्यनन्त-गुणलक्षितः॥२४०॥
नभोमार्गेऽथवोक्तेन वर्जितः क्षीरनीरधीः। मध्ये शशांकसकाशनीरे जातस्थितो जिनः॥२४१॥
– गुण० श्रा०

(७) क्षीराम्भोधिः क्षीरधाराशुभ्राशेषाङ्गसङ्गमः। एवं यच्चिन्त्यते तत्स्याद् ध्यानं रूपस्थनामकम्॥

रूपातीत-ध्यान

वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूवो।
जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूवरहियं ति॥४७६॥ (१)

अर्थ – वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित, केवल ज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है॥४७६॥

अहवा आगम-णोआगमइ[1] भेएहिं सुत्तमग्गेण।
णाऊण भावपुज्जा कायव्वा देसविरएहिं॥४७७॥

अर्थ – अथवा आगमभावपूजा और नोआगमभावपूजा आदि के भेद से शास्त्रानुसार भावपूजा को जानकर वह श्रावकों को करना चाहिए॥४७७॥

एसा छव्विहपूजा णिच्चं धम्माणुरायरत्तेहिं।
जहजोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं॥४७८॥ (२)

अर्थ – इस प्रकार यह छह प्रकार की पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकों को यथायोग्य नित्य ही करना चाहिए॥४७८॥

एयारसंगधारी जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि।
पूजाफलं ण सक्कइ णिस्सेसं वण्णिउं जम्हा॥४७९॥

तम्हा हं णियसत्तीए थोयवयणेण किं पि वोच्छामि।
धम्माणुरायरत्तो भवियजणो होइ जं सव्वो[2]॥४८०॥

---

१. झ. ब. णोआगमेहिं।

(१) *गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं बोधदृङ्मयम्।*
यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं तद्ध्यानं रूपवर्जितम्॥२४३॥

(२) *इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तितः।*
यथाविधिर्विधातव्या प्रयतैर्देशसंयतैः॥२४४॥ – गुण० श्राव०

अर्थ – जबकि ग्यारह अंग का धारक, देवों में सर्वश्रेष्ठ इन्द्र भी सहस्र जिह्वाओं से पूजा के समस्त फल को वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं है, तब मैं अपनी शक्ति के अनुसार थोड़े से वचन द्वारा कुछ कहूँगा, जिससे कि सर्व भव्य जन धर्मानुराग में अनुरक्त हो जावें ॥४७९-४८० ॥

[२]कुत्थुंभरिदलमेत्ते [४]जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं ॥४८१ ॥

जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥४८२ ॥(३)

अर्थ – जो मनुष्य कुन्थुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ॥४८१-४८२ ॥

जलधाराणिक्खेवेण पावमलसोहणं हवे णियमं।
चंदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो ॥४८३ ॥

अर्थ – पूजन के समय नियम से जिन भगवान् के आगे जलधारा के छोड़ने से पापरूपी मैल का संशोधन होता है। चन्दनरस के लेप से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है ॥४८३ ॥

---

२. ध. सव्वे।

३. ध. कुस्तुंबरी दलय। प. कुस्तंभरिदलमेत्ते अर्धकटूंबरि फलमात्रे। ४. धणियादलमात्रे।

(३) कुंस्तुवरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम्। स्थापयेत्प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः ॥२४५ ॥

यस्तु निर्मापयेत्तुङ्गं जिनचैत्यं मनोहरम्। वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽखिलम् ॥२४६ ॥
– गुण० श्राव०

जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहिं अक्खोहो।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ॥४८४॥

अर्थ – अक्षतों से पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा अक्षोभ अर्थात् रोग-शोक-रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होता है और अन्त में अक्षय मोक्ष-सुख को पाता है ॥४८४॥

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणणयण-कुसुमवरमाला।
वलएणच्चियदेहो जइय कुसुमाउहो चेव ॥४८५॥

अर्थ – पुष्पों से पूजा करनेवाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुखवाला, तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देह वाला कामदेव होता है ॥४८५॥

जायइ णिविज्जदाणेण[1] सत्तिगो कंति-तेय-संपण्णो।
लावण्णजलहिवेलातरंगसंपावियसरीरो ॥४८६॥

अर्थ – नैवेद्य के चढ़ाने से मनुष्य शक्तिमान्, कान्ति और तेज से सम्पन्न और सौन्दर्यरूपी समुद्र की वेला (तट) वर्ती तरंगों से संप्लावित शरीरवाला अर्थात् अति सुन्दर होता है ॥४८६॥

दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो।
सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ॥४८७॥

अर्थ – दीपों से पूजा करनेवाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवद्रव्यादि तत्त्वों के रहस्य को प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है ॥४८७॥

धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलिजयत्तओ पुरिसो।
जायइ फलेहि संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो ॥४८८॥

---

१. ब. णिवेज्ज।

अर्थ – धूप से पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति से जगत्त्रय को धवल करनेवाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलों से पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाण का सुखरूप फल पानेवाला होता है ॥४८८॥

घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि।
संकीडइ सुरसंधायसेविओ वरविमाणेसु ॥४८९॥

अर्थ – जिनमन्दिर में घंटा समर्पण करनेवाला पुरुष घंटाओं के शब्द से आकुल अर्थात् व्याप्त, श्रेष्ठ विमानों में सुर-समूह से सेवित होकर प्रवर-अप्सराओं के मध्य में क्रीड़ा करता है ॥४८९॥

छत्तेहिं[2] एयछत्तं भुंजइ पुहवो सवत्तपरिहीणो[3]।
चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणि वहेहिं ॥४९०॥

अर्थ – छत्र-प्रदान करने से मनुष्य, शत्रुरहित होकर पृथ्वी को एक-छत्र भोगता है तथा चमरों के दान से चमरों के समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते हैं ॥४९०॥

अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं।
खीरोयजलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ॥४९१॥

अर्थ – जिनभगवान् के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शनमेरु के ऊपर क्षीरसागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है ॥४९१॥

विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ।
छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी[4] य ॥४९२॥

अर्थ – जिन-मन्दिर में विजय-पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है तथा षट्खंडरूप भारतवर्ष का निष्प्रतिपक्ष

---

२. झ. छत्तिहिं। ३. सपत्नपरिहीनः। ४. ब. जसंसी।

स्वामी और यशस्वी होता है ॥४९२॥

किं जंपिएण बहुणा तीसु वि लोएसु किं पि जं सोक्खं।
पूजाफलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥४९३॥

अर्थ – अधिक कहने से क्या लाभ है, तीनों ही लोक में जो कुछ भी सुख है, वह सब पूजा के फल से प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४९३॥

अणुपालिऊण एवं सावयधम्मं तओवसाणम्मि।
सल्लेहणं च विहिणा काऊण समाहिणा कालं ॥४९४॥

सोहम्माइसु जायइ कप्पविमाणेसु अच्चुयंतेसु।
उववादगिहे कोमलसुयंधसिलसंपुडस्संते[1] ॥४९५॥

अंतोमुहुत्तकालेण तओ पज्जत्तिओ समाणेइ।
दिव्वामलदेहधरो जायइ णवजुव्वणो चेव ॥४९६॥

समचउरससंठाणो रसाइधाऊहिं वज्जियसरीरो।
दिणयरसहस्सतेओ णवकुवलयसुरहिणिस्सासो ॥४९७॥

अर्थ – इस प्रकार श्रावकधर्म को परिपालन कर और उसके अन्त में विधिपूर्वक सल्लेखना करके समाधि से मरण कर अपने पुण्य के अनुसार सौधर्म स्वर्ग को आदि लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त कल्पविमानों में उत्पन्न होता है।

वहाँ के उपपाद-गृहों के कोमल एवं सुगन्धयुक्त शिला-सम्पुट के मध्य में जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अपनी छहों पर्याप्तियों को सम्पन्न कर लेता है तथा अन्तर्मुहूर्त के ही भीतर दिव्य निर्मल देह का धारक एवं नवयौवन से युक्त हो जाता है।

वह देवसमचतुरस्र संस्थान का धारक, रसादि धातुओं से रहित

---

१. झ. प. संपुडस्संतो।

शरीरवाला, सहस्र सूर्यों के समान तेजस्वी, नवीन नीलकमल के समान सुगन्धि निःश्वास वाला होता है ॥४९४-४९७॥

पडिबुज्झिऊण सुत्तुट्ठिओ व्व संखाइमहुरसद्देहिं।
दट्ठूण सुरविभूइं विंभियहियओ पलोएइ ॥४९८॥
किं सुमिणदंसणमिणं ण वेत्ति जा चिट्ठए वियप्पेण।
आयंति तक्खणं चिय थुइमुहला आयरक्खाई ॥४९९॥
जय जीव णंद वड्ढाइचारुसद्देहि सोयरम्मेहिं।
अच्छरसयाउ[1] वि तओ कुणंति चाडूणि विविहाणि[2] ॥५००॥

अर्थ – सोकर उठे हुए राजकुमार के समान वह देव शंख आदि बाजों के मधुर शब्दों से जागकर देव-विभूति को देखकर और आश्चर्य से चकितहृदय होकर इधर-उधर देखता है। क्या यह स्वप्न दर्शन है, अथवा नहीं, या यह सब वास्तविक है, इस प्रकार विकल्प करता हुआ वह जब तक बैठता है कि उसी क्षण स्तुति करते हुए आत्मरक्षक आदि देव आकर, जय (विजयी हो), जीव (जीते रहो), नन्द (आनन्द को प्राप्त हो), वर्द्धस्व (वृद्धि को प्राप्त हो), इत्यादि श्रोत्र-सुखकर सुन्दर शब्दों से नाना चाटुकार करते हैं। तभी सैकड़ों अप्सराएँ भी आकर उनका अनुकरण करती हैं ॥४९८-५००॥

एवं थुणिज्जमाणो[3] सहसा णाऊण ओहिणाणेण।
गंतूण ण्हाणगेहं वुड्डुणवाविम्हि ण्हाऊण ॥५०१॥
आहरणगिहम्मि तओ सोलसहाभूसणं ण गहिऊण।
पूजोवयरणसहिओ गंतूण जिणालए सहसा ॥५०२॥
वरवज्जविविहमंगलरवेहिं गंधक्खयाइदव्वेहिं।
महिऊण जिणवरिंदं थुत्तसहस्सेहिं थुणिऊण ॥५०३॥

---

१. झ. अच्छरसहिओ, ब. अच्छरसमओ। २. ध. विविहाणं। ३. प. माणा।

गंतूण सभागेहं अणेयसुरसंकुलं परमरम्मं।
सिंहासणस्स उवरिं चिट्ठइ देवेहिं थुव्वंतो ॥५०४॥

उस्सियसियायवत्तो सियचामरधुव्वमाणसव्वंगो।
पवरच्छराहिं कीडइ दिव्वट्ठगुणप्पहावेण ॥५०५॥

दीवेसु सायरेसु य सुरसरितीरेसु[1] सेलसिहरेसु।
अखलियगमणागमणो देवुज्जाणाइसु रमेइ ॥५०६॥

अर्थ – इस प्रकार देव और देवांगनाओं से स्तुति किया गया वह देव सहसा उत्पन्न हुए अवधिज्ञान से अपना सब वृत्तान्त जानकर, स्नानगृह में जाकर स्नान-वापिका में स्नान कर तत्पश्चात् आभरणगृह में जाकर सोलह प्रकार के आभूषण धारण कर पुनः पूजन के उपकरण लेकर सहसा या शीघ्र जिनालय में जाकर उत्तम बाजों से तथा विविध प्रकार के मांगलिक शब्दों से और गंध, अक्षत आदि द्रव्यों से जिनेन्द्र भगवान् का पूजन कर और सहस्त्रों स्तोत्रों से स्तुति करके तत्पश्चात् अनेक देवों से व्याप्त और परम रमणीक सभा-भवन में जाकर अनेक देवों से स्तुति किया जाता हुआ, श्वेत छत्र को धारण करता हुआ और श्वेत चमरों से कम्पमान या रोमांचिक है सर्व अंग जिसका, ऐसा वह देव सिंहासन के ऊपर बैठता है।

(वहाँ पर वह) उत्तम अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करता है और अणिमा, महिमा आदि दिव्य आठ गुणों के प्रभाव से द्वीपों में, समुद्रों में, गंगा आदि नदियों के तीरों पर, शैलों के शिखरों पर तथा नन्दनवन आदि देवोद्यानों में अस्खलित (प्रतिबन्ध-रहित) गमनागमन करता हुआ आनन्द करता है ॥५०१-५०६॥

आसाढ कात्तिए फग्गुणे य णंदीसरट्ठदिवसेसु।
विविहं करेइ महिमं णंदीसरचेइय [2]गिहेसु ॥५०७॥

---

१. इ. सरित्तीसु। २. प. घरेसु।

पंचसु मेरुसु तहा विमाणजिणचेइएसु विविहेसु।
पंचसु कल्लाणेसु य करेइ पुज्जं बहुवियप्पं ॥५०८॥

इच्चाइबहुविणोएहि तत्थ विणेऊण सगट्ठिई तत्तो।
उवट्टिओ समाणो चक्कहराईसु जाएइ ॥५०९॥

अर्थ – वह देव आषाढ़, कार्त्तिक और फाल्गुन मास में नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों में, नन्दीश्वर द्वीप के जिन चैत्यालयों में जाकर अनेक प्रकार की पूजा महिमा करता है। इसी प्रकार पाँचों मेरुपर्वतों पर, विमानों के जिन चैत्यालयों में और अनेक पंच कल्याणकों में नाना प्रकार की पूजा करता है।

इस प्रकार इन पुण्य-वर्धक और आनन्दकारक नाना निनादों के द्वारा स्वर्ग में अपनी स्थिति को पूरी करके वहाँ से च्युत होता हुआ वह देव मनुष्यलोक में चक्रवर्ती आदिकों में उत्पन्न होता है ॥५०७-५०९॥

भोत्तूण मणुयसोक्खं पस्सिय वेरग्गकारणं किं चि।
मोत्तूण रायलच्छी तणं व गहिऊण चारित्तं ॥५१०॥

काऊण तवं घोरं लद्धीओ तप्फलेण लद्धूण।
अट्ठगुणे[1] सरियत्तं च किं ण जिज्झइ[2] तवेण जए ॥५११॥

अर्थ – मनुष्य लोक में मनुष्यों के सुख को भोगकर और कुछ वैराग्य का कारण देखकर, राज्यलक्ष्मी को तृण के समान छोड़कर, चारित्र को ग्रहण कर, घोर तप को करके और तप के फल से विक्रियादि लब्धियों को प्राप्त कर अणिमादि आठ गुणों के ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। जग में तप से क्या नहीं सिद्ध होता? सभी कुछ सिद्ध होता है ॥५१०-५११॥

---

१. झ. ध. प. गुणी। २. झ. सब्भुं। ध.प. सज्झं (साध्यमित्यर्थः)।

बुद्धि तवो वि य ज्जलद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया।
रस-बल-अक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥५१२॥

अर्थ – बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि और अक्षीण महानस ऋद्धि – इस प्रकार ये सात ऋद्धियाँ कही गई हैं ॥५१२॥

अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं।
ईसत्त पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए ॥५१३॥

अर्थ – अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, वशित्व, कामरूपित्व, ईशत्व और प्राप्यत्व – ये आठ गुण परमागम में कहे गये हैं ॥५१३॥

एवं काऊण तवं पासुयठाणम्मि तह य गंतूण।
पलियंकं बंधित्ता काउस्सग्गेण वा ठिच्चा ॥५१४॥
जइ खाइयसद्दिट्ठी पुव्वं खवियाउ सत्त पयडीओ।
सुर-णिरय-तिरिक्खाऊ तम्हि भवे णिट्ठियं चेव ॥५१५॥
अह बेदगसद्दिट्ठी पमत्तठाणम्मि अप्पमत्ते वा।
सरिऊण धम्मझाणं सत्त वि णिट्ठवइ पयडीओ ॥५१६॥
काऊण पमत्तेयरपरियत्त[1] सयाणि खवयपाउग्गो।
होऊण अप्पमत्तो विसोहिमाऊरिऊण खणं ॥५१७॥
करणं अधापवत्तं पढमं पडिवज्जिऊण सुक्कं च।
जायइ अपुव्वकरणो कसायखवणुज्जओ[2] वीरो ॥५१८॥

अर्थ – इस प्रकार वह मुनि तपश्चरण करके तथा प्रासुक स्थान में जाकर और पर्यंकासन बाँधकर अथवा कायोत्सर्ग से स्थित होकर, यदि वह क्षायिक-सम्यग्दृष्टि है तो उसने पहले ही अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक – इन सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है,

१. ध. प. परियत। २. इ. ध. णुज्जिओ।

अतएव देवायु, नरकायु और तिर्यगायु - इन तीनों प्रकृतियों को उसी भव में नष्ट अर्थात् सत्त्व-व्युच्छिन्न कर चुका है। और यदि वह वेदक-सम्यग्दृष्टि है तो प्रमत्त गुणस्थान में अथवा अप्रमत्त गुणस्थान में धर्मध्यान का आश्रय करके उक्त सातों ही प्रकृतियों का नाश करता है। पुनः प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में सैकड़ों परिवर्तनों को करके, क्षपक श्रेणि के प्रायोग्य सातिशय अप्रमत्त संयत होकर क्षणमात्र में विशोधि को आपूरित करके और प्रथम अधःप्रवृत्तकरण को और शुक्लध्यान को प्राप्त होकर क्षपण करने के लिए उद्यत वह वीर अपूर्वकरण संयत हो जाता है ॥५१४-५१८॥

एक्केक्कं ठिदिखंडं[1] पाडइ अंतोमुहुत्तकालेण।
ठिदिखंड[2]पडणकाले अणुभागसयाणि पाडेइ ॥५१९॥

गच्छइ विसुद्धमाणो पडिसमयमणंतगुणविसोहीए।
अणियट्टिगुणं तत्थ वि सोलह पयडीओ पाडेइ ॥५२०॥

अर्थ - अपूर्वकरण गुणस्थान में वह अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा एक-एक स्थितिखंड को गिराता है। एक स्थितिखंड के पतनकाल में सैकड़ों अनुभाग खण्डों का पतन करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ पर पहले सोलह प्रकृतियों को नष्ट करता है ॥५१९-५२०॥

अट्ठ कसाए च तओ णवुंसयं तहेव इत्थिवेयं च।
छण्णोकसाय पुरिसं कमेण कोहं पि संछुहइ ॥५२१॥

कोहं माणे माणं मायाए तं पि छुहइ लोहम्मि।
बायरलोहं[3] पि तओ कमेण णिट्ठुवइ तत्थेव ॥५२२॥

अर्थ - वे सोलह प्रकृतियाँ ये हैं - नरकगति, नरक-गत्यानुपूर्वी,

---

१. ब. कंडं। २. ब. कंड। ३. झ. लोहम्मि। प. लोयम्मि।

तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आतप, एकेन्द्रियजाति, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर। इन प्रकृतियों को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में क्षय करता है।

सोलह प्रकृतियों का क्षय करने के पश्चात् आठ मध्यम कषायों को, नपुंसकवेद को तथा स्त्रीवेद को, हास्यादि छह नोकषायों को और पुरुषवेद को नाश करता है और फिर क्रम से संज्वलन क्रोध को भी संक्षुभित करता है। पुनः संज्वलन क्रोध को संज्वलन मान में, संज्वलन मान को संज्वलन माया में और संज्वलन माया को भी बादर-लोभ में संक्रामित करता है। तत्पश्चात् क्रम से बादर लोभ को भी उसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में निष्ठापन करता है अर्थात् सूक्ष्म लोभरूप से परिणत करता है॥५२१-५२२॥

अणुलोहं वेदंतो संजायइ सुहुमसंपरायो सो।
खविऊण सुहुमलोहं खीणकसाओ तओ होइ॥५२३॥

तत्थेव सुक्कझाणं विदियं पडिवज्जिऊण तो तेण।
णिद्दा-पयलाउ दुए दुचरिमसमयम्मि पाडेइ॥५२४॥

णाणंतरायदसयं दंसण चत्तारि चरिमसमयम्मि।
हणिऊण तक्खणे च्चिय सजोगिकेवलिजिणो होइ॥५२५॥

अर्थ – तभी सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाला वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत होता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके वह क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में जाकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है। वहाँ पर ही द्वितीय शुक्लध्यान को प्राप्त करके उसके द्वारा बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियों को नष्ट करता है। चरम समय में ज्ञानावरण कर्म की पाँच, अन्तरायकर्म की पाँच और दर्शनावरण की चक्षुदर्शन आदि

चार इन चौदह प्रकृतियों का क्षय करके वह तत्क्षण ही सयोग-केवली जिन हो जाता है ॥५२३-५२५॥

तो सो तियालगोयर-अणंतगुणपज्जयप्पयं वत्थुं।
जाणइ पस्सइ जुगवं णवकेवललद्धिसंपण्णो ॥५२६॥

दाणे लाहे भोए परिभोए वीरिए सम्मत्ते।
णवकेवललद्धीओ दंसण णाणे चरित्ते य ॥५२७॥

अर्थ – तब वह नय केवललब्धियों से सम्पन्न होकर त्रिकाल-गोचर अनन्त गुण-पर्यायात्मक वस्तु को युगपत् जानता और देखता है। क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक परिभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन (केवल दर्शन), क्षायिक ज्ञान (केवल ज्ञान) और क्षायिक चारित्र (यथाख्यात चारित्र) – ये नव केवललब्धियाँ हैं ॥५२६-५२७॥

उक्कस्सं च जहण्णं पज्जायं विहरिऊण सिज्झेइ।
सो अकयसमुग्घाओ जस्साउसमाणि कम्माणि ॥५२८॥

जस्स ण हु आउसरिसाणि णामागोयाणि वेयणीयं च।
सो कुणइ समुग्घायं णियमेण जिणो ण संदेहो ॥५२९॥

अर्थ – वे सयोगि केवली भगवान् उत्कृष्ट और जघन्य पर्याय-प्रमाण विहार करके अर्थात् तेरहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल–आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त-कम पूर्वकोटी वर्ष प्रमाण है और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, सो जिस केवली की जितनी आयु है, तत्प्रमाण काल तक नाना देशों में विहार कर और धर्मोपदेश देकर सिद्ध होते हैं। (इनमें कितने ही सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।) सो जिस केवली के आयु कर्म की स्थिति के बराबर शेष नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति होती है, वे तो समुद्घात किये बिना ही सिद्ध होते हैं, किन्तु जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आयु के बराबर नहीं

हैं, वे सयोगिकेवली जिन नियम से समुद्घात करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥५२८-५२९॥

छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं होज्ज[1]।
सो कुणइ समुग्घायं इयरो पुण होइ भयणिज्जो ॥५३०॥

अर्थ – छह मास की आयु अवशेष रहने पर जिसके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वे केवली समुद्घात करते हैं, इतर केवली भजनीय हैं, अर्थात् समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥५३०॥

अंतोमुहुत्तसेसाउगम्मि दंडं कवाड पयरं च।
जगपूरणमथ पयरं कवाडदंडं णियतणुपमाणं च ॥५३१॥
एवं पएसपसरण-संवरणं कुणइ अट्ठसमएहिं।
होहिंति जोइचरिमे अघाइकम्माणि सरिसाणि ॥५३२॥

अर्थ – सयोगकेवली अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयु के शेष रह जाने पर (शेष कर्मों की स्थिति को समान करने के लिए) आठ समयों के द्वारा दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण, पुनः प्रतर, कपाट, दंड और निज देह-प्रमाण, इस प्रकार आत्म-प्रदेशों का प्रसारण और संवरण करते हैं। तब सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्त में अघातिया कर्म सदृश स्थितिवाले हो जाते हैं ॥५३१-५३२॥

बायरमण-वचिजोगे रुंभइ तो थूलकायजोगेण।
सुहुमेण तं पि रुंभइ सुहुमे मण-वयणजोगे य ॥५३३॥
सो सुहुमकायजोगे वट्टंतो झाइए तइयसुक्कं।
रुंभित्ता तं पि पुणो अजोगिकेवलिजिणो होइ ॥५३४॥

अर्थ – तेरहवें गुणस्थान के अन्त में सयोगिकेवली जिनेन्द्र बादरकाययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग का निरोध

---

१. इ. म. णाण।

करते हैं। पुनः सूक्ष्म-काययोग से सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं।

तब सूक्ष्म काययोग में वर्तमान सयोगिकेवली जिन तृतीय शुक्लध्यान को ध्याते हैं और उसके द्वारा उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करके वे चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगिकेवली जिन हो जाते हैं॥५३३-५३४॥

बावत्तरि पयडीओ चउत्थसुक्केण तत्थ घाएइ।
दुचरिमसमयम्हि तओ तेरस चरिमम्मि णिट्ठवइ॥५३५॥
तो तम्मि चेव समये लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ।
संचिट्ठइ असरीरो पवरट्ठगुणप्पओ णिच्चं॥५३६॥

अर्थ – उस चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में चौथे शुक्लध्यान से बहत्तर प्रकृतियों का घात करता है और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियों का नाश करता है। उस ही समय में ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला यह जीव शरीररहित और प्रकृष्ट अष्ट-गुण-सहित होकर नित्य के लिए लोक के अग्र भाग पर निवास करने लगता है॥५३५-५३६॥

सम्मत्त णाण दंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं सिद्धाणं वण्णिया गुणट्ठेदे॥५३७॥*

अर्थ – सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व – ये सिद्धों के आठ गुण वर्णन किये गये हैं॥५३७॥

---

* *म और इ प्रति में ये दो गाथाएँ और अधिक पाई जाती हैं –*

मोहक्खएण सम्मं केवलणाणं हणेइ अण्णाणं।
केवलदंसण दंसण अणंतविरियं च अन्तराएण॥१॥
सुहुमं च णामकम्मं आउहणणेण हवइ अवगहणं।
गोयं च अगुरुलहुयं अव्वाबाहं च वेयणीयं च॥२॥

जं किं पि सोक्खसारं तिसु वि लोएसु मणुय-देवाणं।
तमणंतगुणं पि ण एयसमयसिद्धाणुभूयसोक्खसमं ॥५३८॥

अर्थ – तीनों ही लोकों में मनुष्य और देवों के जो कुछ भी उत्तम सुख का सार है, वह अनन्त गुणा हो करके भी एक समय में सिद्धों के अनुभव किये गये सुख के समान नहीं है ॥५३८॥

सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए।
भुंजिवि सुर-मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं ॥५३९॥

अर्थ – (उत्तम रीति से श्रावकों का आचार पालन करनेवाला कोई गृहस्थ) तीसरे भव में सिद्ध होता है, कोई क्रम से देव और मनुष्यों के सुख को भोगकर पाँचवें, सातवें या आठवें भव में सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं ॥५३९॥

॥ इति श्री वसुनन्दी श्रावकाचार समाप्त ॥

○○○